॥ॐ॥

॥श्री परमात्मने नमः ॥

॥श्री गणेशाय नमः॥

बृहदारण्यक उपनिषद

Shri Hindu Dharm Vedic Education Foundation

विषय सूची

॥ श्री हरि ॥

॥अथ बृहदारण्यकोपनिषद॥

॥ हरिः ॐ ॥

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमदुच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

वह परब्रह्म पूर्ण है और वह जगत ब्रह्म भी पूर्ण है, पूर्णता से ही पूर्ण उत्पन्न होता है। यह कार्यात्मक पूर्ण कारणात्मक पूर्ण से ही उत्पन्न होता है। उस पूर्ण की पूर्णता को लेकर यह पूर्ण ही शेष रहता है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

हमारे, अधिभौतिक, अधिदैविक तथा तथा आध्यात्मिक तापों (दुखों) की शांति हो।

॥ श्री हरि ॥

॥बृहदारण्यकोपनिषद॥

अथ प्रथमोऽध्यायः - प्रथमं ब्राह्मणम्

प्रथम अध्याय

प्रथम ब्राह्मण

अश्व ब्राह्मण - विराट का याज्ञिक अश्व के रूप में वर्णन

उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः।
सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणो व्यात्तमग्निर्वैश्वानरः
संवत्सर आत्माऽश्वस्य मेध्यस्य।
द्यौः पृष्ठमन्तरिक्षमुदरं पृथिवी पाजस्यं दिशः पार्श्वे
अवान्तरदिशः पर्शव ऋतवोऽङ्गानि मासाश्चार्धमासाश्च
पर्वाण्यहोरात्राणि प्रतिष्ठा नक्षत्राण्यस्थीनि नभो
माꣳसान्यूवध्यꣳ सिकताः सिन्धवो गुदा यकृच्च क्लोमानश्च
पर्वता ओषधयश्च वनस्पतयश्च लोमान्युद्यन्पूर्वार्धो
निम्लोचञ्जघनार्धो यद्विजृम्भते तद्विद्योतते यद्विधूनुते
तत्स्तनयति यन्मेहति तद्वर्षति वागेवास्य वाक् ॥१॥

ॐ उषा (ब्राह्ममुहूर्त) यज्ञ सम्बन्धी अश्व का शिर है, सूर्य नेत्र है, वायु प्राण है, वैश्वानर अग्नि खुला हुआ मुख है और संवत्सर (वर्ष) यज्ञीय अश्व की आत्मा है । द्युलोक उसकी पीठ है, अन्तरिक्ष उदर (पेट) है, पृथिवी पैर रखने का स्थान है, दिशाएँ पाश्र्वभाग हैं, अवान्तर

दिशाएँ पसलियाँ हैं, ऋतुएँ अङ्ग (हाथ पैर) हैं, मास और अर्द्धमास पर्व (सन्धिस्थान, जोड़) हैं, दिन और रात्रि प्रतिष्ठा (पैर) हैं, नक्षत्र (तारे) अस्थियाँ हैं, आकाश (आकाशस्थित मेघ) मांस हैं, रेत ऊवध्य (उदरस्थित अर्धपक्वअन्न) है, नदियाँ नाडी हैं, पर्वत यकृत् (जिगर) और हृदयगत मांसखण्ड हैं, औषधि और वनस्पतियाँ लोम हैं, ऊपरकी ओर जाता हुआ सूर्य (अश्व का) नाभि से ऊपरका भाग और नीचे की ओर जाता हुआ सूर्य (अश्व का) कटि से नीचे का भाग है। उसका जम्भाई लेना बिजली का चमकना है और शरीर हिलाना मेघ का गर्जन है । वह जो मूत्र त्याग करता है वही वर्षा है और वाणी (गर्जना) ही उसकी वाणी है ॥१॥

अहर्वा अश्वं पुरस्तान्महिमाऽन्वजायत तस्य पूर्वे समुद्रे योनी
रात्रिरेनं पश्चान्महिमाऽन्वजायत तस्यापरे समुद्रे योनिरेतौ वा अश्वं
महिमानावभितः सम्बभूवतुर्हयो भूत्वा देवानवहद् वाजी गन्धर्वान्
अर्वाऽसुरान् अश्वो मनुष्यान् समुद्र एवास्य बन्धुः समुद्रो योनिः ॥ २॥

अश्वके सामने महिमा रूप से दिन प्रकट हुआ,उसकी पूर्व समुद्र योनि है। रात्रि इसके पीछे महिमा रूप से प्रकट हुई, उसकी अपर (पश्चिम) समुद्र योनि है। ये ही दोनों इस अश्वके आगे-पीछे के महिमासंज्ञक ग्रह हुए। इसने हय होकर देवताओं को, वाजी होकर गन्धर्वोको, अर्वा होकर असुरों को और अश्व होकर मनुष्योंको वहन किया है। समुद्र ही इसका बन्धु है और समुद्र ही इसका उत्पत्ति स्थान है। ॥२॥

॥ इति प्रथमं ब्राहमणम् ॥
॥ प्रथम ब्राहमण समाप्त ॥

॥ श्री हरि ॥

॥बृहदारण्यकोपनिषद॥

अथ प्रथमोऽध्यायः - द्वितीयं ब्राह्मणम्

द्वितीय ब्राह्मण

अग्नि ब्राह्मण – अश्वमेध सम्बन्धी अग्नि की उत्पत्ति

नैवेह किंचनाग्र आसीन् मृत्युनैवेदमावृतमासीदशनाययाऽशनाया
हि मृत्युस्तन्मनोऽकुरुताऽऽत्मन्वी स्यामिति । सोऽर्चन्नचरत्
तस्यार्चत आपोऽजायन्तार्चते वै मे कमभूदिति ।
तदेवार्क्यस्यार्कत्वम्।
क९ ह वा अस्मै भवति य एवमेतदर्कस्यार्कत्वं वेद ॥ १॥

पहले यहाँ कुछ भी नहीं था । यह सब मृत्यु से ही आवृत था । यह भूख से ढका हुआ था । भूख ही मृत्यु है। उसने मैं शरीर वाला बन जाऊं, ऐसा निश्चय किया । उसने पूजन) करते हुए विचारा, उसके पूजन अर्चन करने से अप हुआ । अर्चन करते हुए मेरे लिये क (जल) प्राप्त हुआ है, अतः यही अर्क का अर्कत्व है । जो इस प्रकार अर्क के इस अर्कत्व को जानता है उसे निश्चय क (सुख) होता है ॥१॥

आपो वा अर्क तद्यदपा९ शर आसीत् तत्समहन्यत । सा
पृथिव्यभवत्

तस्यामश्राम्यत् तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य तेजो रसो निरवर्तताग्निः ॥ २॥

जल ही अर्क हैं। उस जल का जो शर -स्थूलभाग अथवा झाग था वह एकत्रित हो गया और वह पृथिवी बन गया । उसके उत्पन्न होने पर वह मृत्यु थक गया । उस थके और तपे हुए प्रजापति के शरीर से उसका सारभूत तेज अग्नि प्रकट हुआ ॥२॥

स त्रेधाऽऽत्मानं व्यकुरुताऽऽदित्यं तृतीयं वायुं तृतीयꣳ ।
स एष प्राणस्त्रेधा विहितस्तस्य प्राची दिक्शिरोऽसौ चासौ चेर्मांव
अथास्य प्रतीची दिक्पुच्छमसौ चासौ च सक्थ्यौ दक्षिणा चोदीची
च पार्श्वे द्यौः पृष्ठमन्तरिक्षमुदरमियमुरः स एषोऽप्सु
प्रतिष्ठितो यत्र क्व चैति तदेव प्रतितिष्ठत्येवं विद्वान् ॥ ३॥

उस अग्नि ने अपने आप को तीन प्रकार से विभक्त किया, आदित्य (सूर्य) तीसरा है और वायु तीसरा है और बाकी बचा तीसरा भाग अग्नि है। इस प्रकार यह प्राण तीन भाग में विभक्त हो गया । उसका पूर्व दिशा सिर है तथा इधर-उधर की (ईशानी-उत्तर पूर्व और आग्नेयी दक्षिण पूर्व) विदिशाएँ बाहु हैं। इसी प्रकार पश्चिम दिशा इसकी पूँछ है तथा इधर-उधर की (वायव्य-उत्तर पश्चिम और नैर्ऋत्य-दक्षिण पश्चिम) विदिशाएँ जंघाएँ हैं । दक्षिण और उत्तर दिशाएँ उसके पाश्र्व हैं, द्युलोक पृष्ठभाग है, अन्तरिक्ष उदर है, यह पृथिवी हृदय है। यह अग्निरूप विराट् प्रजापति जल में स्थित है। इसे इस प्रकार जाननेवाला पुरुष जहाँ-कहीं जाता है वहीं प्रतिष्ठित होता है ॥३॥

सोऽकामयत द्वितीयो म आत्मा जायेतेति । स मनसा वाचं
मिथुनꣳ समभवदशनाया मृत्युस्तद्यद्रेत आसीत् स

संवत्सरोऽभवन् न ह पुरा ततः संवत्सर आस । तमेतावन्तं
कालमबिभर्यावान्संवत्सरस्तमेतावतः कालस्य परस्तादसृजत ।
तं जातमभिव्याददात् स भाणकरोत् सैव वागभवत् ॥ ४॥

उसने कामना की कि मेरा दूसरा शरीर उत्पन्न हो; अत: उस भूख रूप मृत्यु ने मन से वेद रूप मिथुन की भावना की। उससे जो बीज उत्पन्न हुआ. वह संवत्सर हुआ। इससे पूर्व सवंत्सर नहीं था। उस संवत्सर को जितना संवत्सर का काल होता है, उठने समय तक वह मृत्युरूप प्रजापति गर्भ में धारण किए रहा। इतने समय के पीछे उसने उसको काल को उत्पन्न किया। जब वह उत्पन्न हुआ तो मृत्यु ने उसकी तरफ मुंह खोला। इससे उसने 'भाण' ऐसा शब्द किया । वही वाणी (आवाज) हुई।

स ऐक्षत यदि वा इममभिमꣳस्ये कनीयोऽन्नं करिष्य इति ।
स तया वाचा तेनाऽऽत्मनेदꣳ सर्वमसृजत यदिदं
किञ्चर्चो यजूꣳषि सामानि छन्दाꣳसि यज्ञान् प्रजाः
पशून् स यद्यदेवासृजत तत्तदत्तुमध्रियत । सर्वं वा अत्तीति
तददितेरदितित्वꣳ । सर्वस्यैतस्यात्ता भवति सर्वमस्यान्नं भवति
य एवमेतददितेरदितित्वं वेद ॥ ५॥

उसने विचार किया कि "यदि मैं इस को मारता हूं, तो थोडा सा भोजन करूँगा । अत: उसने उस वाणी और उस मन के द्वारा इन सबको रचा, जो कुछ भी ये ऋक, यजु:, साम, छंद, यज्ञ, प्रजा और पशु हैं। उसने जिस जिस की रचना की उसी उसी को खाने का विचार किया। निश्चय ही वह सबको खाता है यही अदिति का का अदितित्व है। वह सब कुछ खा जाता है, इसलिए मृत्यु को अदिति कहते हैं। जो इस

प्रकार अदिति के अदितित्व को जानता है वह इन सब का भोक्ता होता है और यह सब उसका अन्न होता है। ॥५॥

सोऽकामयत भूयसा यज्ञेन भूयो यजेयेति । सोऽश्राम्यत् स तपोऽतप्यत । तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य यशो वीर्यमुदक्रामत् प्राणा वै यशो वीर्यम् । तत् प्राणेषूत्क्रान्तेषु शरीरꣳ श्वयितुमध्रियत तस्य शरीर एव मन आसीत् ॥ ६॥

उसने यह कामना की कि मैं पुनः बड़े भारी यज्ञ से यजन करूँ। इससे वह श्रमित हो गया। उसने तप किया। उस श्रमित और तपे हुए मृत्यु का यश और वीर्य निकल गया। प्राण ही यश और वीर्य हैं । तब प्राणों के निकल जाने पर शरीर ने फूलना आरम्भ किया। किंतु उसका मन शरीरमें ही रहा ॥६॥

सोऽकामयत मेध्यं म इदꣳ स्यादात्मन्व्यनेन स्यामिति।
ततोऽश्वः समभवद् यदश्वत् तन्मेध्यमभूदिति।
तदेवाश्वमेधस्याश्वमेधत्वं एष ह वा अश्वमेधं वेद य एनमेवं वेद।
तमनवरुध्यैवामन्यत। तꣳ संवत्सरस्य परस्तादात्मन आलभत।
पशून्देवताभ्यः प्रत्यौहत् तस्मात्सर्वदेवत्यं प्रोक्षितं प्राजापत्यमालभन्त
एष ह वाअश्वमेधो य एष तपति तस्य संवत्सर
आत्माऽयमग्निरर्कस्तस्येमे लोका
आत्मानस्तावेतावर्काश्वमेधौ। सो पुनरेकैव देवता भवति मृत्युरेवाप
पुनर्मृत्युं जयति नैनं मृत्युराप्नोति मृत्युरस्याऽऽत्मा
भवत्येतासां देवतानामेको भवति ॥ ७॥

उसने यह कामना की मेरा यह शरीर मेध्य-यज्ञ के योग्य (यज्ञिय) हो जाए, मैं इसके द्वारा शरीरवान होऊँ; क्योंकि वह शरीर अश्वत् अर्थात् फूल गया था, इसलिये वह अश्व हो गया और वह मेध्य हुआ। अतः यही अश्वमेध का अश्वमेधत्व है। जो इसे इस प्रकार जानता है वही अश्वमेध को जानता है। उसने उसे अबरोधरहित (बन्धन शून्य) ही चिन्तन किया। उसने संवत्सर के पश्चात् उसका अपने ही लिये प्राप्त किया तथा अन्य पशुओं को भी देवताओ के प्रति पहुँचाया। अतः याज्ञिक लोग मन्त्र द्वारा संस्कार किये हुए सर्व देव सम्बन्धी प्राजापत्य पशु को प्राप्त करते हैं। यह जो सूर्य तपता है वही अश्वमेध है। उसका संवत्सर शरीर है, यह अग्नि अर्क है तथा उसके ये लोक आत्मा हैं। ये ही दोनों अग्नि और आदित्य अर्क और अश्वमेध हैं। किंतु वे मृत्युरूप एक ही देवता हैं। जो इस प्रकार जानता है वह पुनर्मुत्यु को जीत लेता है, उसे मृत्यु नहीं पा सकता, मृत्यु उसका आत्मा हो जाता है तथा वह इन देवताओं में से ही एक हो जाता है ॥७॥

॥ इति द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

॥ द्वितीय ब्राह्मण समाप्त ॥

॥ श्री हरि ॥

॥बृहदारण्यकोपनिषद॥

अथ प्रथमोऽध्यायः - तृतीयं ब्राह्मणम्

तृतीय ब्राह्मण

उद्गीथ ब्राह्मण

द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च। ततः कानीयसा एव देवा ज्यायसा असुरास्त एषु लोकेष्वस्पर्धन्त। ते ह देवा ऊचुर्हन्तासुरान्यज्ञ उद्गीथेनात्ययामेति ॥ १॥

प्रजापति के दो प्रकार के पुत्र थे- देव और असुर। उनमें देव कम थे और असुर अधिक थे। इन लोकों में वे एक दूसरे से आगे निकलने के लिए परस्पर स्पर्धा करने लगे। उनमें से देवताओं ने कहा, 'हम यज्ञ में उद्गीथ[1] के द्वारा असुरों का अतिक्रमण करें'। ॥१॥

ते ह वाचमूचुस्त्वं न उद्गायेति । तथेति । तेभ्यो वागुदगायद् यो वाचि भोगस्तं देवेभ्य आगायद् यत्कल्याणं वदति तदात्मने । ते विदुरनेन वै न उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति । तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन् स यः स

---

[1] उद्गीथ सामवेद का एक भाग है, जो ओम से आरम्भ होता है। उद्गाथा इस को सोम्यग्य मे गाता है।

पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपं वदति स एव स पाप्मा ॥ २॥

उन देवताओं ने वाणी से कहा, "तुम हमारे लिये उद्गान करो।" वाणी ने 'बहुत अच्छा' ऐसा कहकर उनके लिये उद्गान किया। उसने जो वाणी में भोग था उसे देवताओं के लिये गान किया और जो शुभ भाषण करती थी उसे अपने लिये गाया। तब असुरों ने समझा कि इस उद्गाता के द्वारा देवता हमसे आगे निकल जायेंगे। अतः उन्होंने उसके पास जाकर उसे पाप से बींध दिया । यह वाणी जो योग्य भाषण (गाली देना, झूठ बोलना, कठोर बोलना इत्यादि) करती है वही वह पाप है, वही वह पाप है ॥२॥

अथ ह प्राणमूचुस्त्वं न उद्गायेति । तथेति । तेभ्यः प्राण उदगायद्
यः प्राणे भोगस्तं देवेभ्य आगायद् यत्कल्याणं जिघ्रति तदात्मने ।
ते विदुरनेन वै न उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति । तमभिद्रुत्य
पाप्मनाऽविध्यन् स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपं जिघ्रति स एव
स पाप्मा ॥ ३॥

फिर देवताओं ने प्राण से कहा "तुम हमारे लिये उद्गान करो ।" तब प्राण ने 'तथास्तु' कहकर उनके लिये उद्गान किया। प्राण में जो भोग है उसे उसने देवताओं के लिये गाया और जो कुछ वह शुभ सूंघता है उसे अपने लिये गाया। तब असुरों ने समझा कि इस उद्गाता के द्वारा देवता हमसे आगे निकल जायेंगे। अतः उन्होंने उसके पास

जाकर उसे पाप से बींध दिया। यह जो योग्य सूंघता है, यही वह पाप है, यही वह पाप है। ॥३॥

अथ ह चक्षुरूचुस्त्वं न उद्गायेति । तथेति । तेभ्यश्चक्षुरुदगायद् यश्चक्षुषि भोगस्तं देवेभ्य आगायद् यत्कल्याणं पश्यति तदात्मने । ते विदुरनेन वै न उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति । तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन् स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपं पश्यति स एव स पाप्मा ॥ ४॥

फिर देवताओं ने चक्षु से कहा, "तुम हमारे लिये उद्गान करो।" तब चक्षु ने 'तथास्तु' कहकर उनके लिये उद्गान किया। चक्षु में जो भोग है उसे उसने देवताओं के लिये गाया और जो कुछ वह शुभ दर्शन करता है उसे अपने लिये गाया। तब असुरों ने समझा कि इस उद्गाता के द्वारा देवता हमसे आगे निकल जायेंगे। अतः उन्होंने उसके पास जाकर उसे पाप से बींध दिया। यह जो अयोग्य देखता है यही वह पाप है, यही वह पाप है। ॥४॥

अथ ह श्रोत्रमूचुस्त्वं न उद्गायेति । तथेति । तेभ्यः श्रोत्रमुदगायद् यः श्रोत्रे भोगस्तं देवेभ्य आगायद् यत्कल्याणꣳ शृणोति तदात्मने । ते विदुरनेन वै न उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति । तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन् स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपꣳ शृणोति स एव स पाप्मा ॥ ५॥

फिर देवताओं ने श्रोत्र से कहा, "तुम हमारे लिये उद्गान करो।" तब श्रोत्र ने 'तथास्तु' कहकर उनके लिये उद्गान किया। श्रोत्र में जो भोग है उसे उसने देवताओं के लिये गाया और वह जो शुभ श्रवण करता है उसे अपने लिये गाया। तब असुरों ने समझा कि इस उद्गाता के द्वारा देवता हमसे आगे निकल जायेंगे। अतः उन्होंने उसके पास जाकर उसे पाप से बींध दिया। यह जो अयोग्य श्रवण करता है, यही वह पाप है, यही वह पाप है। ॥५॥

अथ ह मन ऊचुस्त्वं न उद्गायेति । तथेति । तेभ्यो मन उदगायद्
यो मनसि भोगस्तं देवेभ्य आगायद् यत्कल्याणꣳ सङ्कल्पयति
तदात्मने । ते विदुरनेन वै न उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति । तमभिद्रुत्य
पाप्मनाऽविध्यन् स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपꣳ सङ्कल्पयति स
एव स पाप्मैवमु खल्वेता देवताः पाप्मभिरुपासृजन्
पाप्मभिसुपासृजन्
एवमेनाः पाप्मनाऽविध्यन् ॥ ६॥

फिर देवताओं ने उन्होंने मन से कहा, “तुम हमारे लिये उद्गान करो।" तब मन ने 'तथास्तु' कहकर उनके लिये उद्गान किया। मन में जो भोग है उसे उसने देवताओं के लिये गाया और वह जो शुभसंकल्प करता है उसे अपने लिये गाया। तब असुरों ने समझा कि इस उद्गाता के द्वारा देवता हमसे आगे निकल जायेंगे। अतः उन्होंने उसके पास जाकर उसे पाप से बींध दिया। यह जो अयोग्य संकल्प करता है यही वह पाप है, यही वह पाप है । इस प्रकार निश्चय ही इन देवताओं को

पाप का संपर्क हुआ और ऐसे ही असुरों ने इस देवताओं को पाप से बींध दिया। ॥६॥

अथ हेममासन्यं प्राणमूचुस्त्वं न उद्गायेति । तथेति । तेभ्य एष प्राण उदगायत् ते विदुरनेन वै न उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति । तमभिद्रुत्य पाप्मनाविध्यन् । स यथाश्मानमृत्वा लोष्टो विध्वꣳसेतैवꣳ हैव विध्वꣳसमाना विष्वञ्चो विनेशुस्ततो देवा अभवन् पराऽसुराः । भवत्यात्मना पराऽस्य द्विषन्भ्रातृव्यो भवति य एवं वेद ॥ ७॥

फिर अपने मुख में रहने वाले प्राणसे कहा, "तुम हमारे लिये उद्गान करो ।" तब प्राण ने 'तथास्तु' कहकर उनके लिये उद्गान किया । तब असुरों ने समझा कि इस उद्गाता के द्वारा देवता हमसे आगे निकल जायेंगे। अतः उन्होंने उसके पास जाकर उसे पाप से बींधना चाहा। किंतु जिस प्रकार पत्थर से टकरा कर मिट्टी का ढेला नष्ट हो जाता है उसी प्रकार वह विध्वस्त होकर अनेक प्रकार से नष्ट हो गये। तब देवगण विकार रहित हो गये और असुरों का पराजय हुआ। जो इस प्रकार जानता है वह प्रजापति रूप से उन्नति की ओर अग्रसर होता है और उससे द्वेष करने वाला शत्रु पराजय को प्राप्त होता है। ॥७॥

ते होचुः क्व नु सोऽभूद् यो न इत्थमसक्तेत्ययमास्येऽन्तरिति सोऽयास्य आङ्गिरसोऽङ्गानाꣳ हि रसः ॥ ८॥

देवता बोले, "जिसने हमें इस प्रकार देवभाव को प्राप्त किया है, वह कहाँ है ?" उन्होंने विचार करके निश्चय किया कि "यह आस्य (मुख) के भीतर स्थित है, अतः यह प्राण अयास्य[2] कहलाता है और क्योंकि यह अंगों का रस है, इसलिए अंगिरस है। ॥८॥

सा वा एषा देवता दूर्नाम दूरᳪ ह्यस्या मृत्युर्दूरᳪ ह वा अस्मान्मृत्युर्भवति य एवं वेद ॥ ९॥

वह देवता प्राण 'दूर' नामवाली है, क्योंकि इससे मृत्यु दूर रहता है। जो ऐसा जानता है, उससे मृत्यु दूर रहता है ॥९॥

सा वा एषा देवतैतासां देवतानां पाप्मानं मृत्युमपहत्य यत्राऽऽसां दिशामन्तस्तद्गमयां चकार तदासां पाप्मनो विन्यदधात् तस्मान्न जनमियान् नान्तमियान् नेत्पाप्मानं मृत्युमन्ववायानीति ॥१०॥

इस प्राण देवता ने इन वागादि देवताओं के पापरूप मृत्यु को हटाकर जहाँ इन दिशाओं का अन्त है वहाँ पहुँचा दिया। वहाँ इन के पाप को उन्होंने तिरस्कारपूर्वक स्थापित कर दिया। अतः 'मैं पापरूप मृत्यु से युक्त न हो जाऊँ' इस भय से मनुष्य को धर्म पतित जनों के पास नहीं जाना चाहिए और उन दिशाओं में भी नहीं जाना चाहिए, जहाँ वह वास करते हैं। ॥१०॥

---

[2] अयं – यह, आस्ये – मुंह में से 'अयास्य' बना है।

सा वा एषा देवतैतासां देवतानां पाप्मानं मृत्युमपहत्याथैना मृत्युमत्यवहत् ॥ ११॥

वह प्राण देवता इन देवताओं के पाप रुपी मृत्यु को दूर कर फिर इन्हें मृत्यु के पार ले जा कर, देवतात्म भाव को प्राप्त करा दिया। ॥११॥

स वै वाचमेव प्रथमामत्यवहत् सा यदा मृत्युमत्यमुच्यत सोऽग्निरभवत् सोऽयमग्निः परेण मृत्युमतिक्रान्तो दीप्यते ॥ १२॥

उस प्रसिद्ध प्राण ने सबसे पहले वाक देवता (वाणी) को मृत्यु के पार पहुँचाया। वह वाणी मृत्यु से मुक्त होकर अग्नि हो गयी। वह अग्नि मृत्यु से मुक्त होकर, उसे जीत कर देदीप्यमान है। ॥१२॥

अथ प्राणमत्यवहत् स यदा मृत्युमत्यमुच्यत स वायुरभवत् सोऽयं वायुः परेण मृत्युमतिक्रान्तः पवते ॥ १३॥

इसके पश्च्यात उसने प्राण (घ्राण) को मृत्यु के पार पहुँचाया। वह घ्राण मृत्यु से मुक्त होकर वायु हो गया। वह वायु मृत्यु से मुक्त होकर, उसे जीत कर पवित्र करता है। ॥१३॥

अथ चक्षुरत्यवहत् तद्यदा मृत्युमत्यमुच्यत स आदित्योऽभवत् सोऽसावादित्यः परेण मृत्युमतिक्रान्तस्तपति ॥ १४॥

इसके पश्च्यात उसने नेत्र को मृत्यु के पार पहुँचाया। वह नेत्र मृत्यु से मुक्त होकर आदित्य हो गया। वह आदित्य मृत्यु से मुक्त होकर, उसे जीत कर तपता है। ॥१४॥

अथ श्रोत्रमत्यवहत् तद्यदा मृत्युमत्यमुच्यत ता
दिशोऽभवꣴस्ता इमा दिशः परेण मृत्युमतिक्रान्ताः ॥ १५॥

फिर उसने श्रोत्र को मृत्यु के पार पहुँचाया। वह श्रोत मृत्यु से मुक्त होकर दिशा हो गया। वह दिशाएं मृत्यु से मुक्त हैं। ॥१५॥

अथ मनोऽत्यवहत् तद्यदा मृत्युमत्यमुच्यत स चन्द्रमा अभवत्
सोऽसौ चन्द्रः परेण मृत्युमतिक्रान्तो भात्येवꣴ ह वा एनमेषा
देवता मृत्युमतिवहति य एवं वेद ॥ १६॥

फिर उसने मन को मृत्यु के पार पहुँचाया। वह मन मृत्यु से मुक्त होकर चंद्रमा हो गया। वह चंद्रमा मृत्यु से मुक्त होकर, उसे जीत कर चमकता है। इसी प्रकार जो मनुष्य इस रहस्य को समझ लेता है, यह प्राण देवता उस मनुष्य को मृत्यु के पार पहुंचा देता है। ॥१६॥

अथाऽऽत्मनेऽन्नाद्यमागायद् यद्धि किञ्चान्नमद्यतेऽनेनैव तदद्यत
इह प्रतितिष्ठति ॥ १७॥

इसके पश्च्यात उस प्राण ने अपने लिये खाने योग्य अन्न का गान किया, क्योंकि जो भी कुछ अन्न खाया जाता है, वह प्राण के ही द्वारा खाया जाता है तथा इस देह मे विद्यमान उस अन्न में प्राण प्रतिष्ठित होता है। ॥ १७ ॥

ते देवा अब्रुवन् एतावद्वा इदꣳ सर्वं यदन्नं तदात्मन
आगासीरनु नोऽस्मिन्नन्न आभजस्वेति । ते वै माऽभिसंविशतेति ।
तथेति । तꣳ समन्तं परिण्यविशन्त । तस्माद्यदनेनान्नमत्ति
तेनैतास्तृप्यन्त्येवꣳ ह वा एनꣳ स्वा अभिसंविशन्ति भर्ता
स्वानाꣳ श्रेष्ठः पुर एता भवत्यन्नादोऽधिपतिर्य एवं वेद ।
य उ हैवंविदꣳ स्वेषु प्रतिप्रतिर्बुभूषति न हैवालं भार्येभ्यो
भवत्यथ य एवैतमनुभवति यो वैतमनु भार्यान् बुभूर्षति स
हैवालं भार्येभ्यो भवति ॥ १८॥

वह देवता बोले, “यह जो अन्न है वह सब तो इतना ही है; उसे तुमने केवल अपने लिये गाया है अर्थात अन्न ही इस जगत में सबसे उत्तम वस्तु है, जिसे तुमने अपने लिए गाया है। अत: हमें भी इस अन्न में भागीदार बनाओ।" तब प्राण ने कहा “तुम लोग सभी ओर से मुझमें प्रवेश कर जाओ।" तब 'तथास्तु' ऐसा कहकर वह देवता सभी ओर से उसमें प्रवेश कर गये। अतः प्राण के द्वारा मनुष्य जो अन्न खाता है उससे यह सभी देवता भी तृप्त होते हैं । अतः जो इस प्रकार जानता है उसके जातिजन सभी ओर से उसका आश्रय ग्रहण करते हैं, वह स्वजनों का भरण करनेवाला, उनमें सबसे श्रेष्ठ और उनके आगे चलने वाला नेता होता है तथा अन्न भक्षण कराने वाला सबका

अधिपति होता है। जातिजनों में से जो भी इस प्रकार जाननेवाले के प्रति प्रतिकूल होना चाहता है वह अपने आश्रितों का पोषण करनेमें समर्थ नहीं होता और जो भी इसके अनुकूल रहता है-जो भी इसके अनुसार रहकर अपने आश्रितों का पालन-पोषण करना चाहता है वह निश्चय ही अपने आश्रितों के पालन पोषण में समर्थ होता है। ॥१८॥

सोऽयास्य आङ्गिरसोऽङ्गानाᳫं हि रसः । प्राणो वा अङ्गानाᳫं रसः ।
प्राणो हि वा अङ्गानाᳫं रसस्तस्माद्यस्मात्कस्माच्चाङ्गात्प्राण उत्क्रामति
तदेव तच्छुष्यत्येष हि वा अङ्गानाᳫं रसः ॥ १९॥

वह प्राण अयास्य आङ्गिरस है, क्योंकि वह अङ्गों का रस अर्थात सार है। प्राण ही अङ्गों का रस है, निश्चय प्राण ही अङ्गों का रस है; क्योंकि जिस किसी अङ्ग से प्राण बाहर निकल जाता है, वह वहीं सूख जाता है, नीरस हो जाता है , अतः यही अङ्गोंका रस है। ॥ १९ ॥

एष उ एव बृहस्पतिर्वाग्वै बृहती तस्या एष पतिस्तस्मादु
बृहस्पतिः ॥ २०॥

यही प्राण बृहस्पति भी है। वाणी ही बृहती है और उसका यह पति है, इसलिये यह बृहस्पति है। ॥२०॥

एष उ एव ब्रह्मणस्पतिर्वाग्वै ब्रह्म तस्या एष पतिस्तस्मादु ब्रह्मणस्पतिः ॥ २१॥

यही प्राण ब्रह्मणस्पति भी है। क्योंकि वाणी ही ब्रह्म है और उसका यह पति है, इसलिये यह ब्रह्मणस्पति है ॥२१॥

एष उ एव साम वाग्वै सामैष सा चामश्चेति तत्साम्नः सामत्वम् । यद्वेव समः प्लुषिणा समो मशकेन समो नागेन सम एभिस्त्रिभिर्लोकैः समोऽनेन सर्वेण तस्माद्वेव सामाश्नुते साम्नः सायुज्यꣳ सलोकतां य एवमेतत्साम वेद ॥ २२॥

यही प्राण साम भी है । वाणी ही 'सा' है और यह प्राण 'अम' है । 'सा' और 'अम' ही साम है, यही साम का सामत्व है। क्योंकि यह प्राण मक्खी के समान है, मच्छर के समान है, हाथी के समान है, इस त्रिलोकी के समान है और इन सभी के समान है, इसलिए ही यह साम है। जो इस साम को इस प्रकार जानता है वह साम की एकरूपता और उसकी सलोकता प्राप्त करता है ॥ २२ ॥

एष उ वा उद्गीथः । प्राणो वा उत् प्राणेन हीदꣳ सर्वमुत्तब्धम् । वागेव गीथोच्च गीथा चेति स उद्गीथः ॥ २३॥

यह प्राण ही उद्गीथ है। प्राण ही उत् है, प्राणके द्वारा ही यह सब कुछ धारण किया हुआ है। वाणी ही गीथा है। 'उत्' और 'गीथा' अर्थात प्राण और वाणी, यही दोनों मिलकर उद्गीथ है ॥ २३ ॥

तद्धापि ब्रह्मदत्तश्चैकितानेयो राजानं भक्षयन्नुवाचायं त्यस्य राजा मूर्धानं विपातयताद् यदितोऽयास्य आङ्गिरसोऽन्येनोदगायदिति।
वाचा च ह्येव स प्राणेन चोदगायदिति ॥ २४॥

उस प्राण के विषय में यह आख्यान है – चैकितानेय (चेकितान के पोते) ब्रह्मदत्त ने यज्ञ में सोम पान करते हुए कहा था, "यदि अयास्य और आङ्गिरस नामक मुख्य प्राण ने वाणी संयुक्त प्राण के अलावा देवता द्वारा उद्गान किया हो तो यह सोम मेरा सिर गिरा दें।" अतः उसने प्राण और वाणी के ही द्वारा उद्गान किया था-ऐसा निश्चय होता है ॥ २४ ॥

तस्य हैतस्य साम्नो यः स्वं वेद भवति हास्य स्वम् । तस्य वै स्वर एव स्वम् । तस्मादार्त्विज्यं करिष्यन्वाचि स्वरमिच्छेत तया वाचा स्वरसम्पन्नयाऽऽर्त्विज्यं कुर्यात् तस्माद्यज्ञे स्वरवन्तं दिदृक्षन्त एवाथो यस्य स्वं भवति । भवति हास्य स्वं य एवमेतत्साम्नः स्वं वेद ॥ २५॥

जो उस इस साम शब्द वाच्य मुख्य प्राण के धन को जानता है उसे धन प्राप्त होता है । निश्चय ही स्वर ही उसका धन है। अतः ऋत्विक् कर्म करने वाले को वाणी में स्वर की इच्छा करनी चाहिये। उस स्वर सम्पन्न वाणी से ऋत्विक को कर्म करना चाहिए। यही कारण है की यज्ञ मे लोग उसी उद्गाता को देखना चाहते हैं जो स्वरवान् हैं। लोक

में भी जिसके पास धन होता है, लोग उसे ही देखना चाहते हैं। जो इस प्रकार इस साम के धन अर्थात्त स्वर को जानता है, उसे धन प्राप्त होता है ॥२५॥

तस्य हैतस्य साम्नो यः सुवर्णं वेद भवति हास्य सुवर्णम् । तस्य वै स्वर एव सुवर्णम् । भवति हास्य सुवर्णं य एवमेतत्साम्नः सुवर्णं वेद ॥ २६॥

जो इस साम के सुवर्ण को जानता है, उसे सुवर्ण प्राप्त होता है। उसका स्वर ही सुवर्ण है। जो इस प्रकार इस सामके सुवर्ण को जानता है उसे सुवर्ण मिलता है ॥२६॥

तस्य हैतस्य साम्नो यः प्रतिष्ठां वेद प्रति ह तिष्ठति । तस्य वै वागेव प्रतिष्ठा वाचि हि खल्वेष एतत्प्राणः प्रतिष्ठितो गीयते ऽन्न इत्यु हैक आहुः ॥ २७॥

जो उस इस साम की प्रतिष्ठा को जानता है वह प्रतिष्ठित होता है। उसकी वाणी ही प्रतिष्ठा है, क्योंकि वाणी मे प्रतिष्ठित हुआ ही यह प्राण ही गाया जाता है। कोई यह भी कहते हैं की 'वह अन्न में प्रतिष्ठित होकर गया जाता है'। ॥ २७॥

अथातः पवमानानामेवाभ्यारोहः । स वै खलु प्रस्तोता साम प्रस्तौति । स यत्र प्रस्तुयात् तदेतानि जपेदसतो मा सद् गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्माऽमृतं गमयेति । स यदाहासतो मा

सद्गमयेति मृत्युर्वा असत् सदमृतं मृत्योर्माऽमृतं गमयामृतं मा कुर्वित्येवैतदाह । तमसो मा ज्योतिर्गमयेति मृत्युर्वै तमो ज्योतिरमृतं मृत्योर्मामृतं गमयामृतं मा कुर्वित्येवैतदाह । मृत्योर्मामृतं गमयेति नात्र तिरोहितमिवास्त्यथ यानीतराणि स्तोत्राणि तेष्वात्मनेऽन्नाद्यमागायेत् तस्मादु तेषु वरं वृणीत यं कामं कामयेत तᳬ । स एष एवंविदुद्गाताऽऽत्मने वा यजमानाय वा यं कामं कामयते तमागायति । तद्धैतल्लोकजिदेव न हैवालोक्यताया आशास्ति य एवमेतत्साम वेद ॥ २८॥

अब आगे पवमान मन्त्रों का ही अभ्यारोह कहा जाता है । प्रस्तोता निश्चय ही साम का ही प्रस्ताव (आरम्भ) करता है। जिस समय वह प्रस्ताव करे उस समय इन मन्त्रों को जपे -

'असतो मा सद्गमय', 'तमसो मा ज्योतिर्गमय', 'मृत्योर्मामृतं गमय'।[3]

वह जिस समय कहता है -'मुझे असत् से सत् सत की ओर ले जाओ' यहाँ मृत्यु ही असत् है और अमृत सत् हैं । अतः वह यही कहता है कि मुझे मृत्यु से अमृत की ओर ले जाओ अर्थात् मुझे अमर कर दो । जब वह कहता है- 'मुझे अन्धकारसे प्रकाशकी ओर ले जाओ' तो यहाँ मृत्यु ही अन्धकार है और अमृत ज्योति है अर्थात वह यही कहता है कि मुझे मृत्यु से अमृत की ओर ले जाओ अर्थात्, मुझे अमर कर

[3] मुझे असत् से सत् की ओर ले जाओ, मुझे अन्धकारसे प्रकाश की ओर ले जाओ', 'मुझे मृत्यु से अमरत्व की ओर ले जाओ।

दो । और जब वह यह कहता है की मुझे मृत्यु से अमृत की ओर ले जाओ तो इसमें तो कोई बात छिपी ही नहीं है।

इनके बाद जो अन्य स्तोत्र हैं उनमें उद्गाता अपने लिये खाने योग्य अन्न का गान करता है। उनका गान किये जाने पर यजमान वर माँगे और जिस भोग की इच्छा हो उसकी कामना करे। इस प्रकार जाननेवाला उद्गाता अपने या यजमानके लिये जिस भोग की कामना करता है उसी का उद्गान करता है। यही प्राणदर्शन लोकप्राप्ति का साधन है। जो इस प्रकार से सामको जानता है उसे लोक के अयोग्य होने की आशा तो हो ही नही सकती। ॥ २८ ॥

॥ इति तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

॥ तृतीय ब्राह्मण समाप्त ॥

॥ श्री हरि ॥

॥बृहदारण्यकोपनिषद॥

अथ प्रथमोऽध्यायः - चतुर्थं ब्राह्मणम्

चतुर्थ ब्राह्मण

पुरुषविध ब्राह्मण

आत्मैवेदमग्र आसीत्पुरुषविधः । सोऽनुवीक्ष्य नान्यदात्मनोऽपश्यत्
सोऽहमस्मीत्यग्रे व्याहरत् ततोऽहन्नामाभवत् ।
तस्मादप्येतर्ह्यामन्त्रितो
ऽहमयमित्येवाग्र उक्त्वाऽथान्यन्नाम प्रब्रूते यदस्य भवति । स
यत्पूर्वोऽस्मात्सर्वस्मात्सर्वान्पाप्मन औषत् तस्मात्पुरुषः । ओषति ह
वै स तं योऽस्मात्पूर्वो बुभूषति य एवं वेद ॥ १॥

पहले यह विश्व पुरुषाकार आत्मा ही था । उसने चारों ओर देखने पर अपने से भिन्न कुछ अन्य नहीं देखा। उसने आरम्भ में 'अहमस्मि- मैं ही हूँ' ऐसा कहा, इसलिये वह 'अहम्' नामवाला हुआ। इसलिए अभी भी पुकारे जाने पर पहले 'अहम् -मैं' ऐसा ही कहकर उसके पश्चात् जो उसका नाम होता है वह बतलाता है। क्योंकि इस सबसे पूर्ववर्ती उस आत्मा संज्ञक प्रजापति ने समस्त पापों दग्ध कर डाला था, इसलिये यह पुरुष हुआ। जो इस रहस्य को जान लेता है, वह निःसंदेह समस्त पापों को जला डालता है। ॥१॥

सोऽबिभेत् तस्मादेकाकी बिभेति । स हायमीक्षां चक्रे यन्मदन्यन्नास्ति कस्मान्नु बिभेमीति । तत एवास्य भयं वीयाय । कस्माद्ध्यभेष्यत् द्वितीयाद्वै भयं भवति ॥ २॥

अकेला होने के कारण, वह भयभीत हो गया। इसलिए अकेला मनुष्य भयभीत होता है। उसने यह विचार किया 'यदि मेरे अलावा कोई दूसरा नहीं है तो मैं किससे डरता हूँ ?' तभी उसका वह डर दूर हो गया गया। किंतु उसे भय क्यों हुआ ? क्योंकि भय तो केवल दूसरेसे ही होता है ॥२॥

स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते । स द्वितीयमैच्छत्
स हैतावानास यथा स्त्रीपुमाꣳसौ सम्परिष्वक्तौ ।
स इममेवाऽऽत्मानं द्वेधाऽपातयत् । ततः पतिश्च पत्नी
चाभवताम् । तस्मादिदमर्धबृगलमिव स्व इति ह स्माऽऽह
याज्ञवल्क्यस्तस्मादयमाकाशः स्त्रिया पूर्यत एव । ताꣳ समभवत्
ततो मनुष्या अजायन्त ॥ ३॥

वह प्रसन्न नहीं हुआ। इसलिए अकेला पुरुष प्रसन्न नहीं होता। उसने दूसरे की इच्छा की। इस विचार से वह उस आकर का हो गया, जिस आकर के परस्पर आलिंगित स्त्री और पुरुष होते हैं। उसने अपने इस विराट शरीर को दो भागों में विभक्त कर डाला । उस से पति और पत्नी हुए[4]। इसलिये याज्ञवल्क्य ने कहा की यह शरीर

[4] पति-नर और पत्नी-नारी, इन दोनों शब्दों में मूल -पत अर्थात गिरना बताया गया है। उसने अपने इस ही शरीर को पति और पत्नी के रूप में गिराया (अपातयत) इसी कारण पति और पत्नी यह दोनों नाम पड़े।

अर्द्धबृगल- किसी वस्तु के आधे टुकड़ों में से हर एक टुकड़े का नाम के समान है[5]। इसलिये यह पुरुषार्द्ध आकाश स्त्री से पूर्ण होता है । वह उस स्त्री से संयुक्त हुआ; उसी से मनुष्य उत्पन्न हुए हैं। ॥ ३ ॥

सो हेयमीक्षां चक्रे कथं नु माऽऽत्मन एव जनयित्वा
सम्भवति । हन्त तिरोऽसानीति । सा गौरभवद् ऋषभ
इतरस्ताꣳ समेवाभवत् ततो गावोऽजायन्त । वडवेतराऽभवद्
अश्ववृष इतरो गर्दभीतरा गर्दभ इतरस्ताꣳ समेवाभवत्
तत एकशफमजायत अजेतराऽभवद् वस्त इतरोऽविरितरा मेष
इतरस्ताꣳ समेवाभवत् ततोऽजावयोऽजायन्तैवमेव यदिदं किञ्च
मिथुनमा पिपीलिकाभ्यस्तत्सर्वमसृजत ॥ ४॥

उस स्त्री ने यह विचार किया की अपने से ही उत्पन्न करके यह मुझसे क्यों समागम करता है? हा! मैं छिप जाऊं, अत: वह गौ हो गयी तो दूसरा यानि पुरुष ने वृषभ होकर उससे सम्भोग किया, इससे गाय-बैल उत्पन्न हुए। तब वह स्त्री घोड़ी बनी तो वह पुरुष अश्व श्रेष्ठ हो गए, फिर वह स्त्री गद्र्भी हो गयी और वह पुरुष गदर्भ हो गया, इससे एक खुरखाले पशु उत्पन्न हुए । तदनन्तर वह स्त्री बकरी हो गयी और वह पुरुष बकरा हो गया। फिर वह स्त्री भेड़ हो गयी और वह पुरुष भेड़ा होकर उससे समागम करने लगा। इससे बकरी और भेड़ोंकी

[5] जिस प्रकार चने के दाने दो अलग अलग दल होकर भी पुरुष और स्त्री एक पूर्ण वस्तु के दो अलग अलग दल हैं।

उत्पत्ति हुई। इसी प्रकार चींटी से लेकर ये जितने मिथुन (स्त्री-पुरुष रूप जोड़े) हैं उन सभी की उन्होंने रचना कर डाली।[6] ॥४॥

सोऽवेदहं वाव सृष्टिरस्म्यहꣳ हीदꣳ सर्वमसृक्षीति ।
ततः सृष्टिरभवत् सृष्ट्याꣳ हास्यैतस्यां भवति य एवं वेद ॥ ५॥

उस विराट पुरुष ' मैं ही सृष्टि हूँ!' ऐसा जाना, क्योंकि मैंने इस समस्त सृष्टि को रचा है । इस कारण वह 'सृष्टि' नामवाला हुआ । जो ऐसा जानता है वह इस (प्रजापति) की इस सृष्टि में जीता है। ॥ ५ ॥

अथेत्यभ्यमन्थत् स मुखाच्च योनेर्हस्ताभ्यां
चाग्निमसृजत । तस्मादेतदुभयमलोमकमन्तरतोऽलोमका
हि योनिरन्तरतस्तद्यदिदमाहुरमुं यजामुं यजेत्येकैकं
देवमेतस्यैव सा विसृष्टिरेष उ ह्येव सर्वे देवा अथ
यत्किञ्चेदमार्द्रं तद्रेतसोऽसृजत तदु सोमः । एतावद्वा
इदꣳ सर्वमन्नं चैवान्नादश्च सोम एवान्नमग्निरन्नादः ।
सैषा ब्रह्मणोऽतिसृष्टिर्यच्छ्रेयसो देवानसृजताथ यन्मर्त्यः
सन्नमृतानसृजत तस्मादतिसृष्टिरतिसृष्ट्याꣳ हास्यैतस्यां
भवति य एवं वेद ॥ ६॥

---

[6] एक ही विराट पुरुष से स्त्री-पुरुष की उत्पत्ति दिखला कर यह यह बताने का प्रयास किया गया है की जो भाग नारी था वह गौ, घोड़ी, बकरी इत्यादि नारी स्वरूपों में प्रकट होता चला गया तथा नर भाग, सांड, घोडा, बकरा इत्यादि नर रूपों मे प्रकट होता चला गया। यह केवल सृष्टि की उत्पत्ति के वर्णन का एक रोचक अलंकारिक रूप है।

फिर उसने इस प्रकार मन्थन किया । उसने मुख रूपी योनि (अग्नि के स्थान) को दोनों हाथों द्वारा मन्थन करके अग्नि को उत्पन्न किया। इसलिये यह दोनों, मुख और हाथ अन्दर की तरफ से लोमरहित हैं, क्योंकि अग्नि भी अन्दर से लोमरहित ही होती है। अतः याज्ञिक लोग अग्नि, इन्द्र आदि देवताओं को, एक-एक से अलग-अलग देवता मानते हुए जो ऐसा कहते हैं कि 'इस अग्नि का यजन करो, इस इन्द्र का यजन करो' सो वह इस एक ही ब्रह्म के विभिन्न रूप हैं। यह प्रजापति ही सर्वदेवरूप है । इसके बाद जो कुछ यह रसयुक्त वस्तु है उसे उसने बीज से उत्पन्न किया, वही सोम है। इतना ही यह सब अन्न और अन्न को खाने वाले हैं। सोम ही अन्न है और अग्नि ही अन्न को खाने वाली है। यह ब्रह्मा की अति सृष्टि है कि उसने अपने से उत्कृष्ट देवताओं की रचना की-स्वयं मर्त्य होनेपर भी अमृतों को उत्पन्न किया । इसलिये यह अतिसृष्टि है । जो इस प्रकार जानता है वह इसकी इस अतिसृष्टि में ही समाहित हो जाता है। ॥ ६॥

तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत् तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियतासौ
नामाऽयमिदꣳरूप इति । तदिदमप्येतर्हि नामरूपाभ्यामेव
व्याक्रियतेऽसौ नामायमिदꣳरूप इति । स एष इह प्रविष्ट आ
नखाग्रेभ्यो यथा क्षुरः क्षुरधानेऽवहितः स्याद् विश्वम्भरो वा
विश्वम्भरकुलाये तं न पश्यन्त्यकृत्स्नो हि सः प्राणन्नेव प्राणो
नाम भवति वदन्वाक् पश्यंश्चक्षुः शृण्वञ्छ्रोत्रं मन्वानो
मनस्तान्यस्यैतानि कर्मनामान्येव । स योऽत एकैकमुपास्ते न स
वेदाकृत्स्नो ह्येषोऽत एकैकेन भवत्यात्मेत्येवोपासीतात्र ह्येते

सर्व एकं भवन्ति । तदेतत्पदनीयमस्य सर्वस्य यदयमात्माऽनेन ह्येतत्सर्वं वेद । यथा ह वै पदेनानुविन्देदेवं कीर्तिꣳ श्लोकं विन्दते य एवं वेद ॥ ७॥

यह जगत उस समय - उत्पत्ति से पूर्व प्रकट नहीं था । वह अनेकों नाम रूप के योग से प्रकट हुआ। अत: इस समय भी यह अव्याकृत वास्तु 'इस नाम और इस रूपवाली है' इस प्रकार व्यक्त होती है। वह यह व्याकर्ता इस शरीर में नखाग्र पर्यंत प्रवेश किये हुए हैं जिस प्रकार कि छुरा छुरे के घर में छिपा रहता है अथवा विश्व का भरण करने वाला अग्नि, अग्नि के आश्रय -लकड़ी इत्यादि में गुप्त रहता है उसी तरह यह सर्वान्तरात्मा इसमें प्रविष्ट हुआ परंतु उसे लोग देख नहीं सकते । वह सांस लेता है इसलिए वह प्राण कहलाता है, बोलनेके कारण वाणी है, देखने के कारण नेत्र है, सुनने के कारण श्रोत्र है और मनन करने के कारण मन है। यह इसके कर्मानुसारी नाम ही हैं। अतः इनमें से जो एक-एक की उपासना करता है वह नहीं जानता। वह असम्पूर्ण ही है । वह एक-एक विशेषण से ही युक्त होता है । अतः 'आत्मा है, ऐसा जानकार उसकी उपासना करनी चाहिए, क्योंकि इस आत्मा में ही वह सब एक हो जाते हैं। यह जो आत्मा है वही इस सबका प्राप्त करने योग्य है, क्योंकि यह आत्मा है, इस आत्मा के स्वरुप को जान लेने पर इस समस्त जगत को जाना जा सकता है। जिस प्रकार पदों खुर आदि के चिह्नों द्वारा खोये हुए पशु को प्राप्त कर लेते हैं उसी प्रकार जो ऐसा जानता है वह इसके

द्वारा यश और इष्ट पुरुषों की कीर्ति और स्तुति को प्राप्त करता है। ॥ ७ ॥

तदेतत्प्रेयः पुत्रात् प्रेयो वित्तात् प्रेयोऽन्यस्मात् सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा । स योऽन्यमात्मनः प्रियं ब्रुवाणं ब्रूयात् प्रियꣳ रोत्स्यतीतीश्वरो ह तथैव स्यादात्मानमेव प्रियमुपासीत । स य आत्मानमेव प्रियमुपास्ते न हास्य प्रियं प्रमायुकं भवति ॥ ८॥

यह आत्म तत्त्व पुत्र से अधिक प्रिय है, धन से अधिक प्रिय है और अन्य सबसे भी अधिक प्रिय है; क्योंकि यह आत्मा उनकी अपेक्षा अत्यंत प्रिय है। वह जो आत्मा को प्रिय देखने वाला है, यदि आत्मा से भिन्न -अनात्मा को प्रिय कहने वाले पुरुष से कहे कि 'तेरा प्रिय नष्ट हो जायगा' तो वैसा ही हो जायगा, क्योंकि वह समर्थ है। अतः आत्मा-रूप प्रिय की ही उपासना करनी चाहिए। जो आत्मा-रूप प्रिय की ही उपासना करता है उसका प्रिय मरणशील नहीं होता ॥८॥

तदाहुर्यद्ब्रह्मविद्यया सर्वं भविष्यन्तो मनुष्या मन्यन्ते किमु तद्ब्रह्मावेद् यस्मात्तत्सर्वमभवदिति ॥ ९॥

उन जिज्ञासु ब्राह्मणों ने यह कहा कि ब्रह्म विद्या के द्वारा जो मनुष्य यह मानते हैं की 'हम ब्रह्म विद्या से सर्व हो जायेंगे'; तो वह क्या था जो उस ब्रह्म ने क्या जाना जिससे वह सर्व हो गया? ॥९॥

ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति ।
तस्मात्तत्सर्वमभवत् तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्
तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम् । तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः
प्रतिपेदेऽहं मनुरभवꣳ सूर्यश्चेति । तदिदमप्येतर्हि
य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति इति स इदꣳ सर्वं भवति तस्य ह
न देवाश्चनाभूत्या ईशत आत्मा ह्येषाꣳ स भवत्यथ योऽन्यां
देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद । यथा पशुरेवꣳ
स देवानाम् । यथा ह वै बहवः पशवो मनुष्यं भुञ्ज्युरेवमेकैकः
पुरुषो देवान्भुनक्त्येकस्मिन्नेव पशावादीयमानेऽप्रियं भवति
किमु बहुषु तस्मादेषां तन्न प्रियं यदेतन्मनुष्या विद्युः ॥ १०॥

आरम्भ में यह ब्रह्म ही था, उसने अपने को जाना कि 'मैं ब्रह्म हूँ'। इससे वह सर्व हो गया। उसे देवों में से जिस-जिसने जाना, उसी की अविद्या दूर हो गयी। इसी प्रकार ऋषियों और मनुष्यों में से भी जिसने उसे जाना वह ब्रह्म हो गया। उसे आत्मारूप से देखते हुए ऋषि वामदेव ने जाना-मैं मनु हुआ और सूर्य भी' । उस इस ब्रह्म को इस समय भी जो इस प्रकार जानता है कि मैं ब्रह्म हूँ', वह यह सर्व हो जाता है। उसके ऐश्वर्य के रोकने में देवता भी समर्थ नहीं होते; क्योंकि वह उनका आत्मा ही हो जाता है। और जो अन्य देवताओं की यह समझते हुए उपासना करता है कि मैं इस देवता अन्य हूँ' वह नहीं जानता की वह वह देवताओं के पशु की भांति है। जैसे लोकमें बहुत-से पशु मनुष्य का पालन करते हैं, उसी प्रकार एक-एक मनुष्य देवताओं का पालन करता है। एक पशु का ही हरण किये जाने पर अच्छा नहीं लगता, फिर बहुतों का हरण होने पर तो कहना ही क्या

है ? इसलिये देवताओं को यह प्रिय नहीं है कि मनुष्य ब्रह्मात्म तत्त्व को जानें। ॥१०॥

ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव । तदेकꣳ सन्न व्यभवत् तच्छ्रेयो रूपमत्यसृजत क्षत्रं यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणीन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युरीशान इति । तस्मात्क्षत्रात्परं नास्ति तस्माद्ब्राह्मणः क्षत्रियमधस्तादुपास्ते राजसूये । क्षत्र एव तद्यशो दधाति सैषा क्षत्रस्य योनिर्यद्ब्रह्म । तस्माद्यद्यपि राजा परमतां गच्छति ब्रह्मैवान्तत उपनिश्रयति स्वां योनिम् । य उ एनꣳ हिनस्ति स्वाꣳ स योनिमृच्छति । स पापीयान्भवति यथा श्रेयाꣳसꣳ हिꣳसित्वा ॥११॥

आरम्भ में यह एक ब्रह्म ही था परन्तु अकेला होने के कारण वह संसार वृद्धि कर्म करने में समर्थ नहीं हुआ। उसने अतिशयता से क्षत्र इस प्रशस्त रूप की रचना की। अर्थात् देवताओं में क्षत्रिय जो ये इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, मेघ, यम, मृत्यु और ईशानादि हैं, उन्हें उत्पन्न किया। अतः क्षत्रिय से उत्कृष्ट कोई नहीं है । इसी कारण से राजसूययज्ञ में ब्राह्मण नीचे बैठता है और क्षत्रिय से नीचे बैठ कर उसकी उपासना करता है, वह क्षत्रिय में ही अपने यश को स्थापित करता है। यह जो ब्रह्म का ब्राह्मणत्व है, वही क्षत्रिय का उत्पत्ति स्थान है। इसलिये यद्यपि राजा उत्कृष्टता को प्राप्त होता है तो भी वह राजसूर्य यज्ञ के अन्त में वह ब्राह्मण का ही आश्रय लेता है। अतः जो क्षत्रिय इस ब्राह्मण की हिंसा करता है, वह अपनी योनि का ही नाश

करता है। जिस प्रकार श्रेष्ठ की हिंसा करने से पुरुष पापी होता है, उसी प्रकार वह पापी होता है। ॥११॥

स नैव व्यभवत् स विशमसृजत यान्येतानि देवजातानि गणश
आख्यायन्ते वसवो रुद्रा आदित्या विश्वे देवा मरुत इति ॥१२॥

वह ब्रह्म क्षत्र को रच कर भी संसार वृद्धि कर्म करने में समर्थ नहीं हुआ। तब उसने विश - वैश्यजाति की रचना की। यह जो विभिन्न देवताओं के समूह -वसु, रुद्र, आदित्य, विश्वेदेव और मरुत् इत्यादि देवगण गणशः कहे जाते हैं, उन्हें उत्पन्न किया। ॥१२॥

स नैव व्यभवत् स शौद्रं वर्णमसृजत पूषणमियं वै
पूषेयꣳ हीदꣳ सर्वं पुष्यति यदिदं किञ्च ॥ १३॥

फिर भी वह संसार वृद्धि कर्म करने में समर्थ नहीं हुआ। तब उस ब्रह्म ने शूद्र वर्ण की रचना की। यह पृथ्वी- पूषा ही शूद्रवर्ण है। यह पृथिवी ही पूषा है, क्योंकि यह पृथ्वी उस सब का इसका पोषण करती है। ॥ १३ ॥

स नैव व्यभवत् तच्छ्रेयो रूपमत्यसृजत धर्मम् ।
तदेतत्क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्मस्तस्माद्धर्मात् परं नास्त्यथो
अबलीयान् बलीयाꣳसमाशꣳसते धर्मेण यथा राज्ञैवम् । यो वै स
धर्मः सत्यं वै तत् तस्मात्सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति धर्मं

वा वदन्तꣳ सत्यं वदतीत्येतद्ध्येवैतदुभयं भवति ॥ १४॥

तब भी वह पूर्ण समर्थ नहीं हुआ। तब उसने अत्यंत श्रेष्ठ, कल्याण स्वरूप, धर्म की अतिसृष्टि की। यह जो धर्म है, क्षत्रिय का भी प्रबंधक है। अतः धर्म से उत्कृष्ट कुछ नहीं है। इसलिये जिस प्रकार राजा की सहायता से दुर्बल में भी प्रबल शत्रु को भी जीतने की शक्ति आ जाती है, उसी प्रकार धर्म के द्वारा निर्बल पुरुष भी बलवान को जीतने की इच्छा करने लगता है। वह जो धर्म है, निश्चय सत्य ही है। इसी से सत्य बोलने वालों को कहते हैं कि 'यह धर्ममय वचन बोलता है' तथा धर्ममय वचन बोलने वाले से कहते हैं कि यह सत्य बोलता है, क्योंकि ये दोनों धर्म के ही पहलु हैं। ॥१४॥

तदेतद्ब्रह्म क्षत्रं विट् शूद्रस्तदग्निनैव देवेषु ब्रह्माभवद्
ब्राह्मणो मनुष्येषु क्षत्रियेण क्षत्रियो वैश्येन वैश्यः शूद्रेण
शूद्रस्तस्मादग्नावेव देवेषु लोकमिच्छन्ते ब्राह्मणे मनुष्येष्वेताभ्याꣳ
हि रूपाभ्यां ब्रह्माभवदथ यो ह वा अस्माल्लोकात्स्वं
लोकमदृष्ट्वा प्रैति स एनमविदितो न भुनक्ति यथा वेदो
वाऽननूक्तोऽन्यद्वा कर्माकृतम् । यदि ह वा अप्यनेवंविन्महत्पुण्यं
कर्म करोति तद्धास्यान्ततः क्षीयत एवाऽऽत्मानमेव लोकमुपासीत ।
स य आत्मानमेव लोकमुपास्ते न हास्य कर्म
क्षीयतेऽस्माद्ध्येवाऽऽत्मनो
यद्यत्कामयते तत्तत्सृजते ॥ १५॥

यह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार वर्ण हैं। इन्हें उत्पन्न करने वाला ब्रह्म अग्निरूप से देवताओं में ब्राह्म हुआ तथा मनुष्यों में

ब्राह्मणरूप से ब्राह्मण, क्षत्रियरूप से क्षत्रिय, वैश्यरूप से वैश्य और शूद्ररूप से शूद्र हुआ। इसी से अग्नि में ही कर्म करके देवताओं के बीच कर्मफल की इच्छा करते हैं तथा उसे मनुष्यों के बीच ब्राह्मणजाति में ही कर्मफल की इच्छा करते हैं, क्योंकि ब्रह्म इन दो रूपों से ही व्यक्त हुआ था। तथा जो कोई इस लोक से अन्तरात्मा का दर्शन किये बिना ही चला जाता है, वह उस अविदित आत्मा का पालन नहीं करता और उसका शोक-मोहादि कभी दूर नहीं होता। जिस प्रकार यदि किसी ने वेद अध्ययन न किया हो और न ही किसी अन्य शुभ कर्म का अनुष्ठान किया हो तो वह उसका पालन नहीं करता। इस प्रकार आत्मा को न जाननेवाला पुरुष यदि इस लोक में कोई महान् पुण्यकर्म भी करे तो भी अन्त में उसका वह कर्म क्षीण हो ही जाता है। अतः आत्मा को ही लोक समझ कर उपासना करनी चाहिये। जो पुरुष आत्म लोक की ही उपासना करता है, उसका कर्म क्षीण नहीं होता । इस आत्मा से पुरुष जिस वस्तु की कामना करता है, वह उस को प्राप्त कर लेता है। ॥१५॥

अथो अयं वा आत्मा सर्वेषां भूतानां लोकः स यज्जुहोति यद्यजते
तेन देवानां लोकोऽथ यदनुब्रूते तेन ऋषीणामथ यत् पितृभ्यो
निपृणाति अथ यत्प्रजामिच्छते तेन पितृणामथ यन्मनुष्यान्वासयते
यदेभ्योऽशनं ददाति तेन मनुष्याणामथ यत्पशुभ्यस्तृणोदकं
विन्दति तेन पशूनां यदस्य गृहेषु श्वापदा वयाꣳस्या पिपीलिकाभ्य
उपजीवन्ति तेन तेषां लोको यथा ह वै स्वाय लोकायारिष्टिमिच्छेद्
एवꣳ हैवंविदे सर्वदा सर्वाणि भूतान्यरिष्टिमिच्छन्ति । तद्वा
एतद्विदितं मीमाꣳसितम् ॥१६॥

यह आत्मा समस्त प्राण धारियों का लोक वह जो हवन और यज्ञ करता है, उससे देवताओं का लोक होता है; जो स्वाध्याय करता है, उससे ऋषियों का लोक है। जो पितरों के लिये पिण्डदान करता है और संतान की इच्छा करता है, उससे पितरों का लोक होता है और जो मनुष्यों को वासस्थान और भोजन देता है, उससे मनुष्यों का लोक होता है। इसी प्रकार जो पशुओं को तृण एवं जलादि पहुँचाता है, उससे पशुओं का लोक होता है । इसके घर में जो कुत्ते-बिल्ली आदि श्वापद, पक्षी और चींटी पर्यन्त जीव-जन्तु इसके आश्रित होकर जीवन धारण करते हैं, उससे यह उनका लोक होता है। जिस प्रकार लोक में अपने शरीर का अविनाश चाहते हैं, उसी प्रकार ऐसा जाननेवाले का सब जीव अविनाश चाहते हैं । उस इस कर्म की अवश्य कर्तव्यता पञ्चमहायज्ञ प्रकरण में ज्ञात है और अवदान प्रकरण में इसकी मीमांसा की गयी है[7]। ॥१६॥

आत्मैवेदमग्र आसीदेक एव। सोऽकामयत जाया मे स्यादथ प्रजायेयाथ वित्तं मे स्यात् अथ कर्म कुर्वीयेत्येतावान्वै कामो नेच्छꣳश्चनातो भूयो विन्देत् तस्मादप्येतर्ह्येकाकी कामयते जाया मे स्यादथ प्रजायेयाथवित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीयेति। स यावदप्येतेषामेकैकंन प्राप्नोत्यकृत्स्न एव तावन् मन्यते। तस्यो कृत्स्नता। मनएवास्याऽऽत्मा वाग्जाया प्राणः प्रजा चक्षुर्मानुषं वित्तं चक्षुषा हि तद्विन्दते श्रोत्रं दैवꣳ श्रोत्रेण हि तच्छृणोत्यात्मैवास्य कर्माऽऽत्मना हि कर्म करोति। स एष पाङ्क्तो यज्ञः पाङ्क्तः पशुः

---

[7] शतपथ ब्राह्मण के पञ्चमहायज्ञ प्रकरण में यह लिखा हुआ है तथा अवदान प्रकरण में इस पर विचार किया है।

पाङ्क्तः पुरुषः पाङ्क्तमिदꣳ सर्वं यदिदं किञ्च। तदिदꣳ सर्वमाप्नोति य एवं वेद ॥ १७॥

आरम्भ में एक आत्मा ही था । उसने कामना की कि 'मेरे लिए स्त्री हो, फिर मैं संतान वाला बनूँ तथा मेरे लिए धन हो, फिर मैं कर्म करूँ।" बस इतनी ही मनुष्य की कामना है, इच्छा करने पर भी कोई इससे अधिक नहीं पाता। इसीसे अब भी अकेला पुरुष यही कामना करता है कि मेरे लिए स्त्री हो, फिर मैं संतान वाला बनूँ तथा मुझे धन प्राप्त हो तो फिर मैं कर्म करूँ। जब तक वह इनमें से एक-एक (स्त्री, संतान, धन और कर्मों की पूर्ती) को प्राप्त नहीं करता तब तक वह अपने को अपूर्ण ही मानता है। उसकी पूर्णता इस प्रकार होती है- मन ही इसका आत्मा है, वाणी स्त्री है, प्राण संतान है और नेत्र मानुष धन है, क्योंकि वह नेत्र से ही मानुष धन को देख पाटा है। श्रोत्र उसका दैव धन है, क्योंकि श्रोत्र से ही वह दैव धन को सुनता है। शरीर ही इसका कर्म है, क्योंकि शरीर से ही यह कर्म करता है। यह पांच से बना हुआ यज्ञ है, पांच से बना हुआ पशु है, पांच से बना हुआ पुरुष है तथा यह जो कुछ है, सब पांच से ही बना हुआ है। जो ऐसा जानता है, वह इस सभी को प्राप्त कर लेता है ॥१७॥

॥ इति चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

॥ चतुर्थ ब्राह्मण समाप्त ॥

॥ श्री हरि ॥

॥बृहदारण्यकोपनिषद॥

अथ प्रथमोऽध्यायः - पञ्चमं ब्राह्मणम्

पांचवां ब्राह्मण

यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाऽऽजनयत्पिता । एकमस्य साधारणं द्वे देवानभाजयत् ॥ त्रीण्यात्मनेऽकुरुत पशुभ्य एकं प्रायच्छत् । तस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च न ॥ कस्मात्तानि न क्षीयन्तेऽद्यमानानि सर्वदा । यो वै तामक्षितिं वेद सोऽन्नमत्ति प्रतीकेन स देवानपिगच्छति स ऊर्जमुपजीवतीति श्लोकाः ॥१॥

सृष्टि के पिता -प्रजापति ने ज्ञान और तप के द्वारा जिन सात अन्नों की रचना की, उनमें से इसका एक अन्न साधारण है अर्थात् वह सभी प्राणियों का भोग्य है। दो अन्न उन्होंने देवताओं को बाँट दिये, तीन उन्होंने अपने लिये रख लिए और एक पशुओं को दिया। उस पशुओं को दिये हुए अन्न का, जो सांस लेते हैं और जो सांस नहीं लेते वह सभी सहारा लिए हुए हैं। यह अन्न सर्वदा खाये जाने पर भी क्षीण क्यों नहीं होते है जो इस अन्न के अक्षय भाव को जानता है, वह मुख द्वारा अन्न भक्षण करता है। वह देवताओं को प्राप्त होता है तथा अमृत का उपभोग करता है, इस विषय में यह मन्त्र हैं। ॥ १ ॥

यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत्पितेति मेधया हि तपसाजनयत्
पितैकमस्य साधारणमितीदमेवास्य तत्साधारणमन्नं यदिदमद्यते ।
स य एतदुपास्ते न स पाप्मनो व्यावर्तते मिश्रꣳ ह्येतत् । द्वे
देवानभाजयदिति हुतं च प्रहुतं च तस्माद् देवेभ्यो जुह्वति च प्र
च जुह्वत्यथो आहुर्दर्शपूर्णमासाविति । तस्मान्नेष्टियाजुकः स्यात् ।
पशुभ्य एकं प्रायच्छदिति तत्पयः । पयो ह्येवाग्रे मनुष्याश्च
पशवश्चोपजीवन्ति । तस्मात् कुमारं जातं घृतं वै वाग्रे
प्रतिलेहयन्ति स्तनं वाऽनुधापयन्त्यथ वत्सं जातमाहुरतृणाद
इति । तस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च नेति पयसि
हीदꣳ सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च न । तद्यदिदमाहुः
संवत्सरं पयसा जुह्वदप पुनर्मृत्युं जयतीति न तथा विद्याद्
यदहरेव जुहोति तदहः पुनर्मृत्युमपजयत्येवं विद्वान् सर्वꣳ
हि देवेभ्योऽन्नाद्यं प्रयच्छति । कस्मात्तानि न क्षीयन्तेऽद्यमानानि
सर्वदेति पुरुषो वा अक्षितिः स हीदमन्नं पुनः पुनर्जनयते ।
यो वै तामक्षितिं वेदेति पुरुषो वा अक्षितिः । स हीदमन्नं धिया
धिया जनयते कर्मभिर्यद्धैतन्न कुर्यात् क्षीयेत ह । सोऽन्नमत्ति
प्रतीकेनेति मुखं प्रतीकं मुखेनेत्येतत् स देवानपिगच्छति स
ऊर्जमुपजीवतीति प्रशꣳसा ॥ २॥

सृष्टि के पिता -प्रजापति ने "ज्ञान और तप के द्वारा सात अन्नों की रचना की" यह सत्य है की उन्होंने ज्ञान और तप से ही साथ अन्न उत्पन्न लिए हैं। उनमे से एक अन्न साधारण है अर्थात् यह जो खाया जाता है, वही साधारण अन्न है। जो इसकी उपासना करता है अर्थात खाता है, वह पाप से अलग नहीं होता; क्योंकि यह अन्न समस्त प्राणियों का सम्मिलित रूप है। दो अन्न उसने देवताओंको बाँटे- वह हैं हुत और प्रहुत हैं। हुत- देवताओं के लिए अग्नि में होम करना और

प्रहुत- बलिभाग देना । इसलिये गृहस्थ पुरुष देवताओं के लिये हवन करता है बलि-भाग अर्पित करता है। कोई ऐसा भी कहते हैं कि ये दो अन्न दर्श और पूर्णमास (दर्शेष्टि और पूर्णमासेष्टि) हैं । इसलिये मनुष्य को केवल कामना की पूर्ती करने वाले यजन में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए। एक अन्न पशुओं को दिया, वह दुग्ध है। मनुष्य और पशु पहले दुग्ध के ही आश्रय जीवन धारण करते हैं, इसलिये उत्पन्न हुए बालक को पहले घृत चटाते हैं या स्तनपान कराते हैं। तथा उत्पन्न हुए बछड़े को भी अतृणाद (तृण भक्षण न करनेवाला) कहते हैं। जो श्वास लेते हैं और जो श्वास नहीं लेते, वह वे सब इस दुग्ध का ही सहारा लिए हुए हैं। अतः जो ऐसा कहते हैं कि एक साल तक दुग्ध से हवन करनेवाला पुरुष अपमृत्यु को जीत लेता है, सो ऐसा नहीं समझना चाहिये; क्योंकि जिस दिन वह दुग्ध से हवन करता है, उसी दिन अपमृत्यु को जीत लेता है। इस प्रकार जानने वाला पुरुष देवताओंको सम्पूर्ण अन्नाद्य प्रदान करता है। किंतु सर्वदा खाये जानेपर भी वह अन्न क्षीण क्यों नहीं होते ? इसका कारण यह है कि पुरुष अविनाशी है, वही पुनः पुनः इस अन्न को उत्पन्न कर देता है। जो भी इस अक्षय भाव को जानता है अर्थात् पुरुष क्षयरहित है, वही इस अन्न को ज्ञान और कर्म द्वारा उत्पन्न कर देता है, यदि वह इसे उत्पन्न न करता तो यह क्षीण हो जाता। जो ऐसा जानता है] वह मुख के द्वारा अन्न का भक्षण करता है । वह देवताओं को प्राप्त होता है और अमृत का उपभोग करता है। यह फलश्रुति अर्थात इस विद्या के जानने वाले की प्रशंसा है ॥२॥

त्रीण्यात्मनेऽकुरुतेति मनो वाचं प्राणं तान्यात्मनेऽकुरुतान्यत्रमना अभूवं नादर्शमन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषमिति मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति । कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव । तस्मादपि पृष्ठत उपस्पृष्टो मनसा विजानाति । यः कश्च शब्दो वागेव सैषा ह्यन्तमायत्तैषा हि न । प्राणोऽपानो व्यान उदानः समानोऽन इत्येतत्सर्वं प्राण एवैतन्मयो वा अयमात्मा वाङ्मयो मनोमयः प्राणमयः ॥ ३॥

उसने तीन अन्न उन प्रजापति ने अपने लिये बनाये अर्थात् मन, वाणी और प्राण। इन तीनों अन्नों को उन्होंने अपने (आत्मा के) लिए बनाया। जैसा की मनुष्य कहता है की मेरा मन अन्यत्र था, इसलिये मैंने नहीं देखा, मेरा मन अन्यत्र था, इसलिये मैंने नहीं सुना', इससे निश्चय होता है कि वह मन से ही देखता है और मन से ही सुनता है। काम, संकल्प, संशय, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति (धारणशक्ति), अधृति, लजा, बुद्धि, भय- यह सब कुछ मन ही हैं। इसी कारण पीछे से स्पर्श किये जाने पर भी मनुष्य मन से जान लेता है। जो कुछ भी शब्द है, वह वाणी ही है; क्योंकि नि:संदेह यह अंत तक पहुँचती है, इसलिये प्रकट किए जाने योग्य नहीं है। प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान यह सभी प्राण ही हैं। यह आत्मा इन्ही पर निर्भर रहने वाला है अर्थात् वांग्मय (वाणी पर निर्भर करता है), मनोमय (मन पर निर्भर करता है) और प्राणमय (प्राण पर निर्भर करता) है। ॥३॥

त्रयो लोका एत एव वागेवायं लोको मनोऽन्तरिक्षलोकः प्राणोऽसौ लोकः ॥ ४॥

तीनों लोक यही हैं । वाणी ही पृथ्वी लोक है, मन अंतरिक्ष लोक है और प्राण यह स्वर्ग लोक है। ॥५॥

त्रयो वेदा एत एव वागेवर्ग्वेदो मनो यजुर्वेदः प्राणः सामवेदः ॥ ५॥

तीनों वेद यही हैं। वाणी ही ऋग्वेद है, मन यजुर्वेद है और प्राण सामवेद है। ॥५॥

देवाः पितरो मनुष्या एत एव वागेव देवा मनः पितरः प्राणो मनुष्याः। ॥६॥

देवता, पितृगण और मनुष्य यही हैं । वाणी ही देवता हैं, मन पितृगण है और प्राण मनुष्य हैं। ॥६॥

पिता माता प्रजैत एव मन एव पिता वाङ्गाता प्राणः प्रजा ॥ ७॥

पिता, माता और प्रजा भी यही हैं। मन ही पिता है, वाणी ही माता है और प्राण प्रजा है ॥७॥

विज्ञातं विजिज्ञास्यमविज्ञातमेत एव यत्किञ्च विज्ञातं वाचस्तद्रूपं वाग्घि विज्ञाता वागेनं तद्भूत्वाऽवति ॥८॥

जो कुछ जाना जा चुका है, जो जानने योग्य है और जो अज्ञात है वह यही तीनो हैं। जो कुछ जाना जा चुका है वह वाणी का ही रूप है, क्योंकि वाणी ही जानी हुई है, वाणी अपने ज्ञाता की विज्ञात होकर रक्षा करती है। ॥८॥

यत्किञ्च विजिज्ञास्यं मनसस्तद्रूपं मनो हि विजिज्ञास्यं मन एनं तद्भूत्वाऽवति ॥ ९॥

जो कुछ जानने योग्य है, वह मन का रूप है। क्योंकि जिसके जानने की इच्छा होने चाहिए वह मन ही है। मन ही विजिज्ञास्य होकर इसकी रक्षा करता है। ॥९॥

यत्किञ्चाविज्ञातं प्राणस्य तद्रूपं प्राणो ह्यविज्ञातः प्राण एनं तद्भूत्वाऽवति ॥ १०॥

जो कुछ अविज्ञात है (बिना जाना-समझा), वह प्राण का रूप है। प्राण ही अविज्ञात है। प्राण ही अविज्ञात होकर इसकी रक्षा करता है। ॥१०॥

तस्यै वाचः पृथिवी शरीरं ज्योती रूपमयमग्निस्तद्यावत्येव वाक्
तावती पृथिवी तावानयमग्निः ॥११॥

उस वाणी का पृथिवी शरीर है और यह अग्नि ज्योति रूप है। अत: जितनी बड़ी वाणी है, उतनी ही बड़ी पृथिवी है और उतना ही यह अग्नि है। ॥११॥

अथैतस्य मनसो द्यौः शरीरं ज्योतीरूपमसावादित्यस्तद्यावदेव
मनस्तावती द्यौस्तावानसावादित्यस्तौ मिथुनꣳ समैतां ततः
प्राणोऽजायत । स इन्द्रः स एषोऽसपत्नो द्वितीयो वै सपत्नो नास्य
सपत्नो भवति य एवं वेद ॥१२॥

तथा इस मन का द्युलोक शरीर है और आदित्य ज्योतीरूप है। अत: जितना बड़ा मन है, उतना ही द्युलोक और उतना ही वह आदित्य है। वे दोनों जोड़े आदित्य और अग्नि जब पारस्परिक संसर्ग को प्राप्त हुए, तब प्राण (वायु) उत्पन्न हुआ। वह प्राण जी इन्द्र है और वह शत्रुहीन है; दूसरा अर्थात् इंद्र का प्रतिपक्षी वही शत्रु संपन्न है। जो इस रहस्य को जानता है, उसका शत्रु नहीं होता। ॥१२॥

अथैतस्य प्राणस्याऽऽपः शरीरं ज्योतीरूपमसौ चन्द्रस्तद्यावानेव
प्राणस्तावत्य आपस्तावानसौ चन्द्रः। त एते सर्व एव समाः
सर्वेऽनन्ताः। स यो हैतानन्तवत उपास्तेऽन्तवन्तꣳ स लोकं
जयत्यथ यो हैताननन्तानुपास्तेऽनन्तꣳ स लोकं जयति ॥१३॥

इस प्राण का जल शरीर है और वह चन्द्रमा ज्योतिरूप है। अतः जितना बड़ा प्राण है, उतना ही जल है और उतना ही वह चन्द्रमा है । वैसे तो यह सभी समान हैं और सभी अनन्त हैं। जो कोई इन्हें अंत शील समझ कर उपासना करता है, वह अंत शील लोक पर ही विजय प्राप्त करता है और जो इन्हें अनन्त समझकर उपासना करता है वह अनन्त लोक पर विजय प्राप्त करता है। ॥१३॥

स एष संवत्सरः प्रजापतिः षोडशकलस्तस्य रात्रय एव पञ्चदश कला ध्रुवैवास्य षोडशी कला । स रात्रिभिरेवाऽऽ च पूर्यते ऽप च क्षीयते । सोऽमावास्याᳬ रात्रिमेतया षोडश्या कलया सर्वमिदं प्राणभृदनुप्रविश्य ततः प्रातर्जायते । तस्मादेताᳬ रात्रिं प्राणभृतः प्राणं न विच्छिन्द्यादपि कृकलासस्यैतस्या एव देवताया अपचित्यै ॥ १४॥

वही तीन अन्नरूप संवत्सर प्रजापति है, जिसकी सोलह कलाएँ हैं। उसकी रात्रियाँ ही पंद्रह कला (15 रात्रि) हैं, नित्य रहने वाली ध्रुवा इसकी सोलहवीं कला है। वह रात्रियों के द्वारा ही शुक्लपक्ष में वृद्धिको प्राप्त होता है तथा कृष्ण पक्ष में क्षीण होता है । अमावास्या की रात्रि में वह इस सोलहवीं कला से इन सब प्राणियों में प्रवेश कर फिर दूसरे दिन प्रातःकाल में उत्पन्न होता है। अतः इस अमावस्या की रात्रि में किसी प्राणी के प्राण का विच्छेद न करे, यहाँ तक कि छिपकली के भी अंग का विच्छेद न करे॥ १४ ॥

यो वै स संवत्सरः प्रजापतिः षोडशकलोऽयमेव स योऽयमेवंवित्पुरुषस्तस्य वित्तमेव पञ्चदश कला आत्मैवास्य षोडशी कला । स वित्तेनैवाऽऽ च पूर्यतेऽप च क्षीयते । तदेतन्नभ्यं यदयमात्मा प्रधिर्वित्तम् । तस्माद्यद्यपि सर्वज्यानिं जीयत आत्मना चेज्जीवति प्रधिनाऽगादित्येवाऽऽहुः ॥ १५॥

निःसंदेह वह सोलह कलाओं वाला संवत्सर प्रजापति है यही है जो कि इस प्रकार जाननेवाला पुरुष है। धन ही उसकी घटने बढ़ने वाली पंद्रह कलाएँ हैं तथा आत्मा (शरीर) ही उसकी सोलहवीं कला है। वह धन से ही बढ़ता और क्षीण होता है। यह जो आत्मा (पिण्ड) है, वह नभ्य (रथ चक्र की नाभिरूप) है और धन प्रधि (रथचक्र का बाहर का घेरा) है । इसलिये यदि पुरुष सब कुछ खो जाने के बाद क्षीणता को प्राप्त हो जाय, किंतु शरीरसे जीवित रहे, तो यही कहते हैं कि केवल धन से ही क्षीण हुआ है। ॥१५॥

अथ त्रयो वाव लोकाः मनुष्यलोका पितृलोको देवलोक इति । सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोको देवलोको वै लोकानाꣳ श्रेष्ठस्तस्माद्विद्यां प्रशꣳसन्ति ॥१६॥

अत: मनुष्यलोक, पितृलोक और देवलोक-ये ही तीन लोक हैं। वह यह मनुष्य लोक पुत्र के द्वारा ही जीता जा सकता है, किसी अन्य कर्म से नहीं। तथा पितृलोक कर्म से और देवलोक विद्या से जीते जा सकते हैं । लोकों में देवलोक ही श्रेष्ठ है; इसलिये सदैव विद्या की ही प्रशंसा की जाती है। ॥१६॥

अथातः सम्प्रत्तिर्यदा प्रैष्यन्मन्यतेऽथ पुत्रमाह त्वं ब्रह्म
त्वं यज्ञस्त्वं लोक इति । स पुत्रः प्रत्याहाहं ब्रह्माहं यज्ञो
ऽहम् लोक इति । यद्वै किञ्चानूक्तं तस्य सर्वस्य ब्रह्मेत्येकता ।
ये वै के च यज्ञास्तेषाꣳ सर्वेषां यज्ञ इत्येकता ।
ये वै केच लोकास्तेषाꣳ सर्वेषां लोक इत्येकतैतावद्वा
इदꣳ सर्वमेतन्मा सर्वꣳ सन्नयमितोऽभुनजदिति ।
तस्मात् पुत्रमनुशिष्टं लोक्यमाहुस्तस्मादेनमनुशासति । स
यदैवंविदस्माल्लोकात्प्रैत्यथैभिरेव प्राणैः सह पुत्रमाविशति ।
स यद्यनेन किञ्चिदक्ष्णयाऽकृतं भवति तस्मादेनꣳ
सर्वस्मात्पुत्रो मुञ्चति । तस्मात् पुत्रो नाम । स पुत्रेणैवास्मिंꣳल्लोके
प्रतितिष्ठत्यथैनमेते दैवाः प्राणा अमृता आविशन्ति ॥ १७॥

अब सम्प्रति[8] कही जाती है-जब पिता यह समझता है कि मैं मरनेवाला हूँ तो वह पुत्र से कहता है-'तू ब्रह्म है, तू यज्ञ है, तू लोक है।' वह पुत्र उत्तर देता है- 'मैं ब्रह्म हूँ, मैं यज्ञ हूँ, मैं लोक हूँ ।' जो कुछ भी स्वाध्याय है, उस सबकी 'ब्रह्म' यह एकता है। जो कुछ भी यज्ञ हैं, उनकी 'यज्ञ' यह एकता है। और जो कुछ भी लोक हैं, उनकी 'लोक' यह एकता है। बस इतना ही गृहस्थ पुरुष का सारा कर्त्तव्य है। फिर पिता यह मानने लगता है कि मेरा यह पुत्र मेरे इस भार को लेकर इस लोक से जानेपर मेरा पालन करेगा । अतः इस प्रकार अनुशासित हुए पुत्र को 'लोक्य'- लोकप्राप्ति में हितकर कहते हैं। इसी से पिता

---

[8] सम्प्रति – सौंपना, पिता अपनी मृत्यु के उपरांत इन वचनों मे पुत्र को अपना धर्म कर्म सौंप कर जात है।

उसका अनुशासन करता है। इस प्रकार जानने वाला वह पिता जब इस लोकसे जाता है तो अपने उन्हीं प्राणों के साथ पुत्र में व्याप्त हो जाता है । यदि किसी प्रमाद, विघ्न अथवा त्रुटी से पिता के द्वारा कोई कर्त्तव्य पूरा नहीं किया जाता तो उस सबसे पुत्र उसे मुक्त कर देता है । इसीसे उसका नाम 'पुत्र' है । वह पिता पुत्र के द्वारा ही इस लोकमें प्रतिष्ठित होता है । तब उस पिता में यही अमर अमृत प्राण (मन, वाणी, प्राण) प्रवेश करते हैं। ॥१७॥

पृथिव्यै चैनमग्नेश्च दैवी वागाविशति। सा वै दैवी वाग्यया
यद्यदेव वदति तत्तद्भवति ॥ १८॥

पृथिवी और अग्नि से उस पिता में वह दैवी वाणी का प्रवेश होता है। दैवी वाणी वही है, जिससे पुरुष जो भी बोलता है, वही हो जाता है। ॥१८॥

दिवश्चैनमादित्याच्च दैवं मन आविशति । तद्वै दैवं मनो
येनाऽऽनन्द्येव भवत्यथो न शोचति ॥ १९॥

द्युलोक और आदित्य से इसमें दैव मन का प्रवेश हो जाता है । दैव मन सचमुच वही है, जिससे वह केवल आनंदित रहता है, कभी शोक नहीं करता। ॥१९॥

अद्भ्यश्चैनं चन्द्रमसश्च दैवः प्राण आविशति । स वै दैवः
प्राणो यः सञ्चरꣳश्चासञ्चरꣳश्च न व्यथतेऽथो
न रिष्यति । स एवंवित्सर्वेषां भूतानामात्मा भवति । यथैषा
देवतैवꣳ स यथैतां देवताꣳ सर्वाणि भूतान्यवन्त्येवꣳ
हैवंविदꣳ सर्वाणि भूतान्यवन्ति । यदु किञ्चेमाः प्रजाः
शोचन्त्यमैवाऽऽसां तद्भवति पुण्यमेवामुं गच्छति न ह वै
देवान्पापं गच्छति ॥ २०॥

जलों से और चन्द्रमा से इसमें दैव प्राण का प्रवेश हो जाता है। दैव प्राण वही है जो चलता हुआ अथवा न चलते हुए भी व्यथित नहीं होता और न नष्ट ही होता है। वह इस प्रकार जानने वाला समस्त भूतों का आत्मा हो जाता है। जैसा यह देवता प्राण है, वैसा ही वह हो जाता है । जिस प्रकार समस्त प्राणी इस देवता (प्राण)का पालन और रक्षा करते हैं, उसी प्रकार ऐसी उपासना करने वाले का समस्त समस्त प्राणी पालन और रक्षा करते हैं । जो कुछ ये प्रजाएँ शोक करती हैं, वह शोकादिजनित दुःख उन्हीं के साथ रहता है। इसे तो पुण्य ही प्राप्त होता है, क्योंकि देवताओंके पास पाप नहीं जाता। ॥२०॥

अथातो व्रतमीमाꣳसा । प्रजापतिर्ह कर्माणि ससृजे। तानि
सृष्टान्यन्योऽन्येनास्पर्धन्त वदिष्याम्येवाहमिति वाग्दध्रे
द्रक्ष्याम्यहमिति चक्षुः श्रोष्याम्यहमिति श्रोत्रम् । एवमन्यानि
कर्माणि यथाकर्म । तानि मृत्युः श्रमो भूत्वोपयेमे तान्याप्नोत्
तान्याप्त्वा मृत्युरवारुन्ध । तस्माच्छ्राम्यत्येव वाक् श्राम्यति
चक्षुः श्राम्यति श्रोत्रमथेममेव नाऽऽप्नोद् योऽयं
मध्यमः प्राणस्तानि ज्ञातुं दध्रिरेऽयं वै नः श्रेष्ठो

यः सञ्चरꣳश्चासञ्चरꣳश्च न व्यथतेऽथो न रिष्यति । हन्तास्यैव सर्वे रूपमसामेति । त एतस्यैव सर्वे रूपमभवꣳस्तस्मादेत एतेनाऽऽख्यायन्ते प्राणा इति । तेन ह वाव तत्कुलमाचक्षते यस्मिन्कुले भवति य एवं वेद । य उ हैवंविदा स्पर्धतेऽनुशुष्यत्यनुशुष्य हैवान्ततो म्रियत इत्यध्यात्मम् ॥ २१॥

अब आगे व्रत का विचार किया जाता है। प्रजापति ने कर्मों (कर्म करने वाली इन्द्रियों) की रचना की। रचे जाने पर वह एक दूसरे से स्पर्धा करने लगे। वाणी के व्रत लिया कि मैं बोलती ही रहूँगी अर्थात अपने बोलने के धर्म को कभी बंद नहीं करुँगी तथा 'मैं देखता ही रहूँगा' ऐसा नेत्र ने व्रत लिया। 'मैं सुनता ही रहूँगा' ऐसा श्रोत्र ने व्रत लिया । इसी प्रकार अपने-अपने कर्म के अनुसार अन्य इन्द्रियों ने भी व्रत लिया तब मृत्यु ने थकावन श्रम बनकर उनसे सम्बन्ध किया और उनमें व्याप्त हो गया । उनमें व्याप्त होकर मृत्यु ने उनका अवरोध किया, इसी से वाणी थकती ही है, नेत्र थकता ही है, श्रोत्र थकता ही है। किंतु यह जो मध्यम प्राण (मुख्य प्राण) है, इसमें में वह व्याप्त न हो सका । तब उन इन्द्रियों ने उसे जानने का निश्चय किया। निश्चय यही हम सभी से श्रेष्ठ है, जो चलता हुआ तथा न चलता हुआ भी व्यथित नहीं होता और न नष्ट ही होता है। अच्छा, हम सभी इसी के रूप हो जायँ। ऐसा निश्चय कर वह सभी इसी के रूप हो गयीं । अतः वह इसी के नामसे 'प्राण' इस प्रकार कही जाती हैं, जो इस रहस्य को जानता है, वह जिस कुल में होता है, वह कुल उसी के नाम से जाना जाता है। तथा जो ऐसे विद्वान् से स्पर्धा करता है, वह सूख जाता

है और सूखकर अन्त में मर जाता है।यह अध्यात्मप्राण दर्शन है अर्थात शरीर के सम्बन्ध मे विचार है। ॥२१॥

अथाधिदैवतं ज्वलिष्याम्येवाहमित्यग्निर्दध्रे तप्स्याम्यहमित्यादित्यो भास्याम्यहमिति चन्द्रमा एवमन्या देवता यथादैवतꣳ । स यथैषां प्राणानां मध्यमः प्राण एवमेतासां देवतानां वायुर्निम्लोचन्ति ह्यन्या देवता न वायुः । सैषाऽनस्तमिता देवता यद्वायुः ॥ २२॥

अब अधिदैवदर्शन (देवताओं के सम्बन्ध मे विचार) कहा जाता है- अग्नि ने व्रत लिया कि मैं जलता ही रहूँगा', सूर्य ने व्रत लिया, 'मैं तपता ही रहूँगा तथा चन्द्रमा ने व्रत लिया, मैं प्रकाशित ही होता रहूँगा ।' इसी प्रकार अन्य देवताओं ने भी यथा दैवत (जिस देवता का जो व्यापार था, उसीके अनुसार) व्रत लिया। जिस प्रकार इन वाणी प्राणों में मध्यम प्राण है, उसी प्रकार इन देवताओं में वायु है, क्योंकि अन्य देवगण तो अस्त हो जाते हैं; किंतु वायु अस्त नहीं होता। यह जो वायु है, अस्त न होने वाला देवता है। ॥२२॥

अथैष श्लोको भवति यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छतीति प्राणाद्वा एष उदेति प्राणेऽस्तमेति तं देवाश्चक्रिरे धर्मꣳ, स एवाद्य स उ श्व इति । यद्वा एतेऽमुर्ह्यध्रियन्त तदेवाप्यद्य कुर्वन्ति । तस्मादेकमेव व्रतं चरेत् प्राण्याच्चैवापान्याच्च नेन्मा पाप्मा मृत्युराप्नवदिति । यद्यु चरेत् समापिपयिषेत् तेनो एतस्यै देवतायै सायुज्यꣳ सलोकतां जयति ॥ २३॥

इसी अर्थ को समझाने वाला यह मन्त्र हैं-जिस वायुदेवता से सूर्य उदय होना है और जिसमें वह अस्त होता है। नि:संदेह यह प्राणसे ही उदित होता है और प्राण में ही अस्त जो जाता है । उस धर्म को देवताओं ने बनाया। वही आज है और वही कल भी रहेगा। देवताओं ने जो व्रत उस समय धारण किया था वही आज भी करते हैं। अतः एक ही व्रतका आचरण करें । प्राण और अपान व्यापार करे अर्थात साँस अन्दर खींचे और बाहर छोड़ें। इस भय से कि कही पापी मृत्यु मुझे व्याप्त न कर ले। इस व्रत का आचरण करें और यदि इसका आचरण करें तो इसे समाप्त करने की भी इच्छा रखें इससे वह इस देवता से सायुज्य और सालोक्य प्राप्त करता है ॥२३॥

॥ इति पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥

॥ पांचवां ब्राह्मण समाप्त ॥

॥ श्री हरि ॥

॥बृहदारण्यकोपनिषद॥

अथ प्रथमोऽध्यायः - षष्ठं ब्राह्मणम्

छठा ब्राह्मण

त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म । तेषां नाम्नां वागित्येतदेषामुक्थमतो हि सर्वाणि नामान्युत्तिष्ठन्ति । एतदेषाꣳ सामैतद्धि सर्वैर्नामभिः सममेतदेषां ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि नामानि बिभर्ति ॥ १॥

यह नाम, रूप और कर्म तीन का समुदाय हैं। उन नामों की वाणी यह उक्थ अर्थात कारण है, क्योंकि सारे नाम इसी से उत्पन्न होते हैं। यह इनका साम है। यही सब नामों में समान है। यह इनका ब्रह्म है, क्योंकि यही समस्त नामों को धारण करती है। ॥१॥

अथ रूपाणां चक्षुरित्येतदेषामुक्थमतो हि सर्वाणि रूपाण्युत्तिष्ठन्ति । एतदेषाꣳ सामैतद्धि सर्वै रूपैः समम् । एतदेषां ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि रूपाणि बिभर्ति ॥२॥

अब, रूपों का अर्थात आकारों का वर्णन करते हैं। नेत्र इनका उक्थ है क्योंकि इसी से सारे रूप उत्पन्न होते हैं। यह इनका साम है, क्योंकि यह समस्त रूपों के बराबर सम है। यह इनका ब्रह्म है, क्योंकि यही समस्त रूपों को धारण करता है। ॥२॥

अथ कर्मणामात्मेत्येतदेषामुक्थमतो हि सर्वाणि कर्माण्युत्तिष्ठन्त्येतदेषाꣳ सामैतद्धि सर्वैः कर्मभिः समं एतदेषां ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि कर्माणि बिभर्ति । तदेतत्त्रयꣳ सदेकमयमात्माऽऽत्मो एकः सन्नेतत्त्रयम् । तदेतदमृतꣳ सत्येन छन्नम् । प्राणो वा अमृतं नामरूपे सत्यं ताभ्यामयं प्राणश्छन्नः ॥ ३॥

अब, कर्मों का सामान्य आत्मा (शरीर) है। यह इनका उक्थ है। इसी से सब कर्म उत्पन्न होते हैं । यह इनका साम है, क्योंकि यह समस्त कर्मों के बराबर है। यह इनका ब्रह्म है, क्योंकि यही समस्त कर्मों को धारण करता है। वह यह तीन होते हुए भी (नाम, कर्म, रूप) एक आत्मा है और आत्मा भी एक होते हुए यह तीन है। वह यह अमृत सत्य से आच्छादित है। नि:संदेह प्राण ही अमृत है और नाम-रूप सत्य हैं, उन दोनों से यह प्राण ढका हुआ है। ॥३॥

॥इति षष्ठं ब्राह्मणम्॥

॥छठा ब्राह्मण समाप्त॥

॥ इति बृहदारण्यकोपनिषदि प्रथमोऽध्यायः ॥

॥बृहदारण्यक उपनिषद का प्रथम अध्याय समाप्त॥

॥ श्री हरि ॥

॥बृहदारण्यकोपनिषद॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः - प्रथमं ब्राह्मणम्

द्वितीय अध्याय

प्रथम ब्राह्मण

<u>अजातशत्रु ब्राह्मण</u>

ॐ दृप्तबालाकिर्हानूचानो गार्ग्य आस । स होवाचाजातशत्रुं काश्यं ब्रह्म ते ब्रवाणीति । स होवाचाजातशत्रुः सहस्रमेतस्यां वाचि दद्मो जनको जनक इति वै जना धावन्तीति ॥ १॥

ॐ किसी समय गार्ग्य गोत्र में उत्पन्न कोई गर्वीला बलाका का पुत्र अत्यंत अभिमानी और पंडित था। उसने काशी के राजा अजातशत्रु के पास जाकर कहा-मैं तुम्हें ब्रह्म का उपदेश करूँगा।' उस अजातशत्रु ने कहा, इस वचनके लिये मैं आपको सहस्र गौएँ देता हूँ। लोग 'जनक, जनक' ऐसा कहकर दौड़ते हैं अर्थात् सब लोग यही कहते हैं कि 'जनक बड़ा दानी है, जनक बड़ा श्रोता है। ये दोनों बातें आपने अपने वचनसे मेरे लिये सुलभ कर दी हैं । इसलिये मैं आपको सहस्र गौएँ देता हूँ। ॥१॥

स होवाच गार्ग्यो य एवासावादित्ये पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति । स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा । अतिष्ठाः सर्वेषां भूतानां मूर्धा राजेति वा अहमेतमुपास इति । स य एतमेवमुपास्ते ऽतिष्ठाः सर्वेषां भूतानां मूर्धा राजा भवति ॥ २॥

उस गार्ग्य ने कहा, ' यह पुरुष जो साक्षात् रूप से सूर्य में विद्यमान है, मैं इसी की ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ।'

उस अजातशत्रुने कहा-नहीं, नहीं, इसके विषय में बात मत करो क्योंकि यह सब मैं पहले से ही जानता हूँ। यह पुरुष जो साक्षात् सूर्य में स्थित है यह सबके ऊपर स्थित है, समस्त भूतों प्राणियों का मस्तक और राजा है, मैं ऐसा समझ कर इसकी उपासना करता हूँ। जो पुरुष इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह समस्त प्राणियों में श्रेष्ठ, समस्त प्राणियों में शिरोमणि और राजा होता है। ॥२॥

स होवाच गार्ग्यो य एवासौ चन्द्रे पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति । स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा । बृहन् पाण्डरवासाः सोमो राजेति वा अहमेतमुपास इति । स य एतमेवमुपास्तेऽहरहर्ह सुतः प्रसुतो भवति नास्यान्नं क्षीयते ॥ ३॥

वह गार्ग्य बोला, 'यह जो पुरुष चन्द्रमा में स्थित है, मैं इसी की ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ।'

उस अजातशत्रुने कहा, 'नहीं, नहीं, इसके विषयमें बात मत करो क्योंकि यह सब मैं पहले से ही जानता हूँ। चंद्रमा में स्थित यह पुरुष महान्, शुक्ल वस्त्रधारी, सोम राजा है, इस प्रकार मैं इसकी उपासना करता हूँ। जो इसकी इस प्रकार उपासना करता है, उसके लिये नित्य-प्रति सोम सुत और प्रस्तुत[9] होता है तथा उसका अन्न क्षीण नहीं होता' ॥ ३ ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवासौ विद्युति पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति । स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठास्तेजस्वीति वा अहमेतमुपास इति । स य एतमेवमुपास्ते तेजस्वी ह भवति तेजस्विनी हास्य प्रजा भवति ॥ ४॥

वह गार्ग्य बोला, "यह जो पुरुष विद्युत् में स्थित है, मैं इसी की ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ।'

उस अजातशत्रुने कहा, 'नहीं, नहीं, इसकी चर्चा मत करो क्योंकि यह सब मैं पहले से ही जानता हूँ। मैं इसको नि:संदेह तेजस्वीरूप से उपासना करता हूँ। जो कोई इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह तेजस्वी होता है तथा उसकी प्रजा भी तेजस्विनी होती है। ॥ ४ ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायमाकाशे पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति। स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठाः। पूर्णमप्रवर्तीति

---

[9] मुख्य और गौण सोम यज्ञ अर्थात दोनों प्रकार के सोम यज्ञ उस उपासक को प्राप्त होते हैं।

वा अहमेतमुपास इति। स य एतमेवमुपास्ते पूर्यते प्रजया पशुभिर्नास्यास्माल्लोकात्प्रजोद्वर्तते ॥ ५॥

वह गार्ग्य बोला, 'यह जो पुरुष आकाश में स्थित है, मैं इसी की ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ।'

उस अजातशत्रुने कहा, 'नहीं, नहीं, इसके विषय में बात मत करो क्योंकि यह सब मैं पहले से ही जानता हूँ। मैं उसकी पूर्ण और न मिटने वाला जानकार उपासना करता हूँ। जो कोई इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह प्रजा और पशुओंसे पूर्ण होता है और इस लोकमें उसकी प्रजा का उच्छेद नहीं होता'। ॥ ५ ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायं वायौ पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति । स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा । इन्द्रो वैकुण्ठोऽपराजिता सेनेति वा अहमेतमुपास इति । स य एतमेवमुपास्ते
जिष्णुर्हापराजिष्णुर्भवत्यन्यतस्त्यजायी ॥ ६॥

वह गार्ग्य बोला, "यह जो पुरुष वायु में स्थित है, मैं इसकी ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ।'

उस अजातशत्रुने कहा, 'नहीं, नहीं, इसके विषयमें बात मत करो । इसकी तो मैं इन्द्र, वैकुण्ठ और अपराजिता सेना-इस रूपसे उपासना करता हूँ। जो कोई इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह विजयी, कभी न हारनेवाला और शत्रुविजेता होता है। ॥ ६ ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायमग्नौ पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति ।
स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा । विषासहिरिति
वा अहमेतमुपास इति । स य एतमेवमुपास्ते विषासहिर्ह भवति
विषासहिर्हास्य प्रजा भवति ॥ ७॥

वह गार्ग्य बोला, "यह जो अग्निमें पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।'

उस अजातशत्रु ने कहा, 'नहीं, नहीं, इसकी चर्चा मत करो क्योंकि यह सब मैं पहले से ही जानता हूँ। इसकी तो मैं वैकुण्ठ तथा इंद्र की न हारने वाली सेना – मरुत सेना जान कर उपासना करता हूँ। जो कोई इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह निश्चय जीतने के स्वरुप वाला, कभी न हारने वाला तथा अपने शत्रुओं को जीतने वाला होता है और उसकी प्रजा भी ऐसी ही होती है।॥ ७ ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायमप्सु पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास
इति । स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठाः । प्रतिरूप
इति वा अहमेतमुपास इति । स य एतमेवमुपास्ते प्रतिरूपꣳ
हैवैनमुपगच्छति नाप्रतिरूपमथो प्रतिरूपोऽस्माज्जायते ॥ ८॥

वह गार्ग्य बोला, "यह जो पुरुष जलों मे स्थित है, इसकी मैं ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ।'

उस अजातशत्रु ने कहा, 'नहीं, नहीं, इसकी चर्चा मत करो क्योंकि यह सब मैं पहले से ही जानता हूँ। इसकी मैं प्रतिरूप (ठीक सदृश्य) जानकर उपासना करता हूँ। जो कोई इसकी इस प्रकार उपासना करता है, उसको वह वस्तु प्राप्त होता है , जो प्रतिरूप (अनुकूल) है, न की अप्रतिरूप (प्रतिकूल) और प्रतिरूप (अपने सदृश्य ही इस से पुत्र उत्पन्न होता है।॥८॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायमादर्शे पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति । स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा । रोचिष्णुरिति वा अहमेतमुपास इति । स य एतमेवमुपास्ते रोचिष्णुर्ह भवति रोचिष्णुर्हास्य प्रजा भवत्यथो यैः सन्निगच्छति सर्वाꣳस्तानतिरोचते ॥ ९॥

वह गार्ग्य बोला, 'यह जो पुरुष दर्पण में स्थित है, मैं इसकी ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ।'

उस अजातशत्रुने कहा, 'नहीं नहीं, इसकी चर्चा मत करो क्योंकि यह सब मैं पहले से ही जानता हूँ। इसकी तो मैं देदीप्यमान रूप से उपासना करता हूँ ।' जो कोई इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह निश्चय देदीप्यमान होता है, उसकी प्रजा भी देदीप्यमान होती है और उसका जिनसे सङ्गम होता है, उन सबसे बढ़कर वह दीप्तिमान होता है ॥९॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायं यन्तं पश्चाच्छब्दोऽनूदेत्येतमेवाहं ब्रह्मोपास इति । स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा । असुरिति

वा अहमेतमुपास इति । स य एतमेवमुपास्ते सर्वꣳ हैवास्मिꣳल्लोक आयुरेति नैनं पुरा कालात्प्राणो जहाति ॥१०॥

वह गार्ग्य बोला, 'जानेवाले के पीछे जो यह शब्द उत्पन्न होता है, इसीकी मैं ब्रह्मरू पसे उपासना करता हूँ।'

उस अजातशत्रुने कहा, 'नहीं, नहीं, इसकी चर्चा मत करो क्योंकि यह सब मैं पहले से ही जानता हूँ। इसकी तो मैं प्राणरूप से उपासना करता हूँ।' जो कोई इसकी इस प्रकार उपासना करता है वह इस लोक में पूर्ण आयु प्राप्त करता है, इसे प्राण समय से पहले नहीं छोड़ता। ॥१०॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायं दिक्षु पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति । स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा । द्वितीयोऽनपग इति वा अहमेतमुपास इति । स य एतमेवमुपास्ते द्वितीयवान्ह भवति नास्माद्
गणश्छिद्यते ॥ ११॥

वह गार्ग्य बोला, 'यह जो पुरुष दिशाओं में स्थित है, मैं इसकी ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ।'

उस अजातशत्रुने कहा, 'नहीं, नहीं, इसकी चर्चा मत करो क्योंकि यह सब मैं पहले से ही जानता हूँ। मैं इसकी द्वितीय और अनपगरूपसे उपासना करता हूँ।' जो कोई इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह द्वितीयवान् होता है और उससे गण का विच्छेद नहीं होता ॥ ११॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायं छायामयः पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति । स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा । मृत्युरिति वा अहमेतमुपास इति । स य एतमेवमुपास्ते सर्वꣳ हैवास्मिꣳल्लोक आयुरेति नैनं पुरा कालान्मृत्युरागच्छति ॥ १२॥

वह गार्ग्यबोला, 'यह जो छायामय पुरुष है, इसकी मैं ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ।'

उस अजातशत्रु ने कहा, 'नहीं, नहीं, इसकी चर्चा मत करो क्योंकि यह सब मैं पहले से ही जानता हूँ। इसकी तो मैं मृत्युरूप से उपासना करता हूँ।' जो कोई इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह इस लोक में पूर्ण आयु प्राप्त करता है और इसके पास समय से पहले मृत्यु नहीं आती हैं ॥ १२ ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायमात्मनि पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति । स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा आत्मन्वीति वा अहमेतमुपास इति ।
स य एतमेवमुपास्त आत्मन्वी ह भवत्यात्मन्विनी हास्य प्रजा भवति ।
स ह तूष्णीमास गार्ग्यः ॥ १३॥

वह गार्ग्यबोला 'यह जो पुरुष आत्मा में स्थित है, इसकी मैं ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ।'

उस अजातशत्रुने कहा, नहीं, नहीं, इसकी चर्चा मत करो क्योंकि यह सब मैं पहले से ही जानता हूँ। इसकी तो मैं आत्मा वाला जान कर उपासना करता हूँ। जो कोई इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह निश्चय आत्मा वाला होता है और उसकी प्रजा भी आत्मा वाली होती है ।' तब वह गार्ग्य चुप हो गया॥१३॥

स होवाचाजातशत्रुरेतावन्नू ३ इत्येतावद्धीति । नैतावता विदितं भवतीति । स होवाच गार्ग्य उप त्वा यानीति ॥ १४॥

वह अजातशत्रु बोला, 'बस, क्या इतना ही है ?

गार्ग्य बोला -'हाँ, इतना ही है।'

अजातशत्रु बोला - 'इतने से तो ब्रह्म विदित नहीं होता ।'

वह गार्ग्य बोला, तो मुझे शिष्य बनकर अपने समक्ष उपस्थित होने की आज्ञा दें। ॥१४॥

स होवाचाजातशत्रुः प्रतिलोमं चैतद्यद्ब्राह्मणः क्षत्रियमुपेयाद् ब्रह्म मे वक्ष्यतीति । व्येव त्वा ज्ञपयिष्यामीति । तं पाणावादायोत्तस्थौ । तौ ह पुरुषꣳ सुप्तमाजग्मतुस्तमेतैर्नामभिरामन्त्रयांचक्रे बृहन्पाण्डरवासः सोम राजन्निति । स नोत्तस्थौ । तं पाणिनाऽऽपेषं बोधयांचकार । स होत्तस्थौ ॥ १५॥

उस अजातशत्रु ने कहा, 'ब्राह्मण क्षत्रिय की शरण में इस आशा से जाए कि यह मुझे ब्रह्म का उपदेश करेगा, यह तो विपरीत है। परन्तु मैं तुम्हे उस ब्रह्म का ज्ञान अवश्य करवाऊंगा।' तब अजातशत्रु उसका हाथ पकड़कर उठा और वह दोनों एक सोये हुए पुरुष के पास गये। अजातशत्रु ने उस सोये हुए पुरुष को 'हे ब्रह्म ! हे पाण्डरवास ! हे सोम राजन् !' इन नामों से पुकारा। परंतु वह नही उठा । तब अजातशत्रु ने उस सोये हुए पुरुष को हाथ से दबा-दबाकर जगाया तो वह उठ बैठा। ॥१५॥

स होवाचाजातशत्रुर्यत्रैष एतत् सुप्तोऽभूद् य एष विज्ञानमयः
पुरुषः क्वैष तदाऽभूत् कुत एतदागादिति। तदु ह न मेने गार्ग्यः
॥१६॥

उस अजातशत्रु ने कहा, 'यह जो विज्ञानमय पुरुष है, जब सोया हुआ था, तब कहाँ था ? और यह कहाँ से आया ?' किंतु गार्ग्य यह न जान सका। ॥१६॥

स होवाचाजातशत्रुर्यत्रैष एतत्।सुप्तोऽभूद् य एष विज्ञानमयः
पुरुषस्तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय य एषोऽन्तर्हृदय
आकाशस्तस्मिञ्छेते। तानि यदा गृह्णाति अथ हैतत्पुरुषः
स्वपिति नाम। तद्गृहीत एव प्राणो भवति गृहीता वाग् गृहीतं
चक्षुर्गृहीतꣳ श्रोत्रं गृहीतं मनः ॥१७॥

अजातशत्रु ने कहा, "यह जो विज्ञानमय पुरुष है, जब यह सोया हुआ था, उस समय यह विज्ञान के द्वारा इन प्राणों के विज्ञान को ग्रहण कर, हृदय के भीतर जो आकाश है उसमें शयन करता है। जिस समय यह उन विज्ञानों को ग्रहण कर लेता है, उस समय इस पुरुष का 'स्वपिति'[10] नाम होता है। उस समय प्राण धारण किया हुआ रहता है, वाणी धारण की हुई रहती है, नेत्र धारण किया हुआ रहता है, श्रोत्र धारण किया हुआ रहता है और मन भी धारण किया हुआ गृहीत रहता है। ॥ १७ ॥

स यत्रैतत्स्वप्न्यया चरति ते हास्य लोकास्तदुतेव महाराजो
भवत्युतेव महाब्राह्मण उतेवोच्चावचं निगच्छति। स यथा
महाराजो जानपदान्गृहीत्वा स्वे जनपदे यथाकामं परिवर्तेतैवमेवैष
एतत्प्राणान्गृहीत्वा स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते ॥ १८॥

जिस समय यह आत्मा स्वप्न की वृत्ति से विचरता है अर्थात स्वप्न देखता है। उस समय इसके वह लोक स्वप्न लोक के कर्मफल उदित होते हैं। वहाँ भी यह महाराजा होता है अथवा महाब्राह्मण होता है अथवा ऊँची-नीची गतियों को प्राप्त होता है। जिस प्रकार कोई महाराज अपने प्रजाजनों को लेकर अपने देश में इच्छा अनुसार विचरता है, उसी प्रकार यह प्राणों को ग्रहण कर अपने शरीर में यथेच्छ विचरता है। ॥१८॥

---

[10] अपने स्वरुप को प्राप्त होता है अथवा सोता है।

अथ यदा सुषुप्तो भवति यदा न कस्यचन वेद हिता नाम नाड्यो द्वासप्ततिः सहस्राणि हृदयात्पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते । ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते । स यथा कुमारो वा महाराजो वा महाब्राह्मणो वाऽतिघ्नीमानन्दस्य गत्वा शयीतैवमेवैष एतच्छेते ॥ १९॥

इसके पश्चात् जब वह गहरी नींद में सोता है और जिस समय वह किसी के विषय में कुछ भी नहीं जानता, उस समय हिता नाम की जो बहत्तर हजार नाडियाँ हृदय से सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर स्थित हैं, उनके द्वारा बुद्धि के साथ जाकर वह शरीर में व्याप्त होकर शयन करता है । वह जिस प्रकार कोई बालक अथवा महाराज अथवा महाब्राह्मण आनन्द की चरम सीमा को प्राप्त होकर सोता है, उसी प्रकार यह भी सोता है ॥ १९॥

स यथोर्णभिस्तन्तुनोच्चरेद् यथाऽग्नेः क्षुद्रा विष्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति । सर्वे ॥। व्युच्चरन्ति तस्योपनिषत्सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम् ॥ २०॥

जिस प्रकार मकड़ा तन्तुओं पर ऊपर की ओर जाता है तथा जैसे अग्नि से अनेकों छोटी छोटी चिनगारियाँ उड़ती हैं, उसी प्रकार इस आत्मा से समस्त प्राण, समस्त लोक, समस्त देवगण और समस्त

प्राणी विविध रूप से उत्पन्न होते हैं । 'सत्य का सत्य' यह उस आत्मा की उपनिषद् है। प्राण ही सत्य हैं। उन्हीं का यह सत्य है ॥२०॥

॥ इति प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

॥ प्रथम ब्राह्मण समाप्त ॥

॥ श्री हरि ॥

॥बृहदारण्यकोपनिषद॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः - द्वितीयं ब्राह्मणम्

द्वितीय ब्राह्मण

शिशु ब्राह्मण

यो ह वै शिशुꣳ साधानꣳ सप्रत्याधानꣳ सस्थूणꣳ
सदामं वेद सप्त ह द्विषतो भ्रातृव्यानवरुणद्धयं वाव
शिशुर्योऽयं मध्यमः प्राणस्तस्येदमेवाऽऽधानमिदं प्रत्याधानं
प्राणः स्थूणाऽन्नं दाम ॥ १॥

जो कोई शिशु को उसके घर, खाने, खूंटे और रस्सी के सहित को जानता है, वह अपने से द्वेष करने वाले सात भ्रातव्यों[11] का अवरोध करता है। यह जो मध्यम प्राण है, वही शिशु है, उसका यह शरीर ही घर है । यह सिर ही खाना है, खूंटा प्राण - अन्नपान जनित शक्ति है और अन्न ही रस्सी है[12]। ॥१॥

---

[11] दो आँख, दो कान, दो नासिका और मुख –विषयों को जानने के सात द्वार

[12] यह प्राण अन्न रुपी रस्सी द्वारा अन्नपान जनित शक्तियों से बंधा हुआ इस देह में विद्यमान है।

तमेताः सप्ताक्षितय उपतिष्ठन्ते तद्या इमा अक्ष॒ल्लोहिन्यो राजयस्ताभिरेन॒ रुद्रोऽन्वायत्तोऽथ या अक्षन्नापस्ताभिः पर्जन्यो या कनीनका तयाऽऽदित्यो यत्कृष्णं, तेनाग्निर्यच्छुक्लं तेनेन्द्रो ऽधरयैनं वर्तन्या पृथिव्यन्वायत्ता द्यौरुत्तरया । नास्यान्नं क्षीयते य एवं वेद ॥ २॥

उसका यह सात अक्षितियां- नाश न होने वाली शक्तियां स्तवनकरती हैं। उनमें से जो यह नेत्र में लाल रेखाएँ हैं – उन्ही के द्वारा रुद्र इस मध्य प्राण के अनुगत[13] है और नेत्रों में जो जल है उसके द्वारा मेघ अनुगत है। जो दर्शनाक्ति है उसके द्वारा आदित्य अनुगत है और जो कालिमा है उसके द्वारा अग्नि अनुगत हैं। जो शुक्लता है उसके द्वारा इन्द्र अनुगत है। नीचे की पलक द्वारा पृथिवी इसके अनुगत है एवं ऊपर की पलक द्वारा द्युलोक इसके अनुगत है। जो इस प्रकार जानता है, उसका अन्न क्षीण नहीं होता ॥२॥

तदेष श्लोको भवति । अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम् । तस्याऽऽसत ऋषयः सप्त तीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदानेति । अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्न इतीदं तच्छिरः एष ह्यर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः । तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपमिति प्राणा वै यशो निहितं विश्वरूपं प्राणानेतदाह । तस्याऽऽसत ऋषयः सप्त तीर इति प्राणा वा ऋषयः प्राणाणेतदाह । वागष्टमी ब्रह्मणा संविदानेति वाग्घ्यष्टमी ब्रह्मणा संवित्ते ॥ ३॥

---

[13] अनुगामी – पीछे चलने वाला।

इस विषय मे यह मन्त्र हैं। चमस नीचे की ओर छिद्र-वाला और मूल ऊपर और उठा हुआ है, उसमें विश्वरूप यश निहित है, उसके किनारे पर सात ऋषिगण[14] और वेद के द्वारा संवाद करनेवाली आठवी वाणी रहती है। जो नीचे की ओर छिद्र वाला और ऊपर की ओर उठा हुआ चमस है, वह सिर है क्योंकि यही नीचे की ओर छिद्रवाला – मुख वाला और मूल उपर की और उठा हुआ -सिर का पिंजर, है। उसमे विश्वरूप यश निहित है - प्राण ही विश्वरूप यश हैं, प्राणों के विषय में ही मन्त्र ऐसा कहता है। उसके किनारे पर सात ऋषि रहते हैं, इन्द्रियां ही ऋषि हैं, इन्द्रियों के विषय में ही मन्त्र ऐसा कहता है और आठवीं वाणी है जो वेद के द्वारा यथार्थ अनुभव करवाती है। ॥३॥

इमावेव गोतमभरद्वाजावयमेव गोतमोऽयं भरद्वाज इमावेव
विश्वामित्रजमदग्नी अयमेव विश्वामित्रोऽयं जमदग्निरिमावेव
वसिष्ठकश्यपावयमेव वसिष्ठोऽयं कश्यपो वागेवात्रिर्वाचा
ह्यन्नमद्यतेऽत्तिर्ह वै नामैतद्यदत्रिरिति । सर्वस्यात्ता भवति
सर्वमस्यान्नं भवति य एवं वेद ॥ ४॥

यह दोनों कान ही गौतम और भरद्वाज हैं। यह दायाँ कान ही गौतम है और दूसरा बायाँ कान भारद्वाज है। यह दोनों नेत्र ही विश्वामित्र और जमदग्नि हैं, यह दायाँ नेत्र ही विश्वामित्र है और यह दूसरा बायाँ नेत्र जमदग्नि है। यह दोनों घ्राण (नासारन्ध्र) ही वसिष्ठ और कश्यप हैं,

[14] दो कान, दो नेत्र, दो नासिका और एक मुख

यह दायाँ घ्राण ही वशिष्ठ है और यह दूसरा बायाँ घ्राण कश्यप है। तथा वाणी ही अत्रि है, क्योंकि वाणी से ही अन्न भक्षण किया जाता है। जिसे अत्रि कहते हैं, उसका निश्चय 'अत्ति' नाम वाला ही है। जो इस प्रकार जानता है, वह सबका अत्ता (भोक्ता) होता है और हर वस्तु इसका अन्न होती है। ॥४॥

॥ इति द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

॥ द्वितीय ब्राह्मण समाप्त ॥

॥ श्री हरि ॥

॥बृहदारण्यकोपनिषद॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः - तृतीयं ब्राह्मणम्

तृतीय ब्राह्मण

मूर्तामूर्त ब्राह्मण

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च मर्त्यं चामृतं च
स्थितं च यच्च सच्च त्यच्च ॥ १॥

ब्रह्म के दो रूप हैं – मूर्त और अमूर्त, मर्त्य और अमृत, स्थित और चर तथा सत (व्यक्त) और असत (अव्यक्त)। ॥१॥

तदेतन्मूर्तं यदन्यद्वायोश्चान्तरिक्षाच्चैतन्मर्त्यमेतत्स्थितं
एतत्सत् । तस्यैतस्य मूर्तस्यैतस्य मर्त्यस्यैतस्य स्थितस्यैतस्य
सत एष रसो य एष तपति सतो ह्येष रसः ॥ २॥

जो वायु और अन्तरिक्ष से भिन्न है, वह मूर्त है। वह मर्त्य है, वह स्थित है और वह यह सत-व्यक्त है। इस मूर्त का, इस सत्य का. इस स्थित

का, इस सत का यह सार है, जोकि तपता है अर्थात सूर्य क्योंकि यह सत (व्यक्त) का ही सार है। ॥२॥

अथामूर्तं वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतमेतद्यदेतत्त्यत्
तस्यैतस्यामूर्तस्यै तस्यामृतस्यैतस्य यत एतस्य त्यस्यैष रसो
य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषस्तस्य ह्येष रस । इत्यधिदैवतम् ॥ ३॥

तथा वायु और अन्तरिक्ष अमूर्त हैं; यह अमृत हैं; यह चर हैं और यह ही असत हैं। इस अमूर्त का , इस अमृत का, इस चर का, इस असत का यह सार है जो की इस सूर्य मंडल मे पुरुष है, यही इस असत का सार है। यह अधिदैवत दर्शन है। ॥३॥

अथाध्यात्ममिदमेव मूर्तं यदन्यत्प्राणाच्च यश्चायमन्तरात्मन्नाकाश
एतन्मर्त्यमेतत्स्थितमेतत्सत् तस्यैतस्य मूर्तस्यै तस्य
मर्त्यस्यैतस्य स्थितस्यैतस्य सत एष रसो यच्चक्षुः सतो ह्येष
रसः ॥ ४॥

अब अध्यात्म मूर्तामूर्त का वर्णन किया जाता है। जो प्राण तथा जो शरीर के अन्दर विद्यमान आकाश है, उसके भिन्न जो भी कुछ है वह मूर्त है, वह मर्त्य है, वह स्थित है और वही सत है। यह जो नेत्र है वही इस मूर्त का, इस मर्त्य का इस स्थित का एवं इस सत का सार है। ॥४॥

अथामूर्तं प्राणश्च यश्चायमन्तरात्मन्नाकाश एतदमृतमेतद्यद्
एतत्त्यं तस्यैतस्यामूर्तस्यैतस्यामृतस्यैतस्य यत एतस्य त्यस्यैष
रसो योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्त्यस्य ह्येष रसः ॥५॥

अब अमृत का वर्णन करते हैं। प्राण और इस शरीर के अन्दर जो आकाश है, वह अमूर्त हैं। यह अमृत है,यह चर है और यही असत है। उस इस अमूर्त का, इस अमृत का, इस चर का, इस असत का, यह रस है। जो यह दक्षिण नेत्र के अंतर्गत पुरुष है, यह असत का रस है। ॥५॥

तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपम् । यथा माहारजनं वासो यथा
पाण्ड्वाविकं
यथेन्द्रगोपो यथाऽग्न्यर्चिर्यथा पुण्डरीकं यथा सकृद्विद्युत्तᳯ ।
सकृद्विद्युत्तेव ह वा अस्य श्रीर्भवति य एवं वेदा थात आदेशो
नेति नेति न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत् परमस्त्यथ नामधेयᳯ सत्यस्य
सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम् ॥ ६॥

इस पुरुष का रंग ऐसा है जैसा केसर मे रंग हुआ वस्त्र, जैसा सफ़ेद ऊनी वस्त्र, जैसा इन्द्रगोप, जैसी अग्नि की ज्वाला, जैसे श्वेत कमल और जैसी बिजली की चमक होती है। जो ऐसा जानता है, उसकी श्री बिजली की चमक के समान, सर्वत्र – एक साथ फैलने वाली होती है। अब इसके पश्च्यात ' नेति-नेति' यह ब्रह्म का आदेश है।'नेति-नेति'

इससे बढ़कर कोई उत्कृष्ट आदेश नहीं है। सत्य का सत्य यह उसका नाम है। प्राण ही सत्य हैं, उनका यह सत्य है। ॥६॥

॥ इति तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

॥ तृतीय ब्राह्मण समाप्त ॥

॥ श्री हरि ॥

॥बृहदारण्यकोपनिषद॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः - चतुर्थं ब्राह्मणम्

चतुर्थ ब्राह्मण

मैत्रेयी ब्राह्मण

मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्य उद्यास्यन्वा अरेऽहमस्मात्स्थानादस्मि ।
हन्त तेऽनया कात्यायन्याऽन्तं करवाणीति ॥१॥

याज्ञवल्क ने कहा: हे मैत्रेयी ! मैं इस स्थान (गृहस्थ आश्रम) से ऊपर (सन्यास आश्रम) मे जाना चाहता हूँ अत: मैं चाहता हूँ इस कात्यायनी(दूसरी पत्नी) के साथ तेरा बँटवारा कर दूँ। ॥१॥

सा होवाच मैत्रेयी यन्नु म इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन
पूर्णा स्यात् कथं तेनामृता स्यामिति । नेति होवाच याज्ञवल्क्यो
यथैवोपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितꣳ स्यादमृतत्वस्य
तु नाऽऽशाऽस्ति वित्तेनेति ॥ २॥

मैत्रेयी ने कहा: - 'भगवन् ! यदि यह धन से सम्पन्न सारी पृथिवी मेरी हो जाय तो क्या मैं उस से किसी प्रकार अमर हो सकती हूँ?

याज्ञवल्क ने कहा:- 'नहीं' भोग-सामग्रियों से सम्पन्न मनुष्यों का जैसा जीवन होता है, वैसा ही तेरा भी जीवन हो जागा । धन से अमृतत्व की तो आशा है ही नहीं'। ॥२॥

सा होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम् । यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहीति ॥ ३॥

मैत्रेयी ने कहा:- जिससे मैं अमर नहीं हो सकती उन भोगों को लेकर मैं क्या करुँगी ? श्रीमान जो कुछ अमृत्व-अमरता प्राप्त करने का साधन जानते हो, वही मुझे बताएं। ॥३॥

स होवाच याज्ञवल्क्यः प्रिया बतारे नः सती प्रियं भाषस एह्यास्स्व व्याख्यास्यामि ते । व्याचक्षाणस्य तु मे निदिध्यासस्वेति ॥ ४॥

याज्ञवल्क ने कहा: धन्य है हे मैत्रेयी! तू पहले भी मेरी प्रिया रही है और इस समय भी मुझे प्रिय लगने वाली ही बात कह रही है। अच्छा आ, बैठ जा, मैं उसकी (अमरत्व की) विस्तार से व्याख्या करूँगा, तू व्याख्यान किये हुए मेरे वाक्यों के अर्थ का चिंतन करना आर्थर उस पर ध्यान देना। ॥४॥

स होवाच न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति । न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति । न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति । न

वा अरे वित्तस्यकामाय वित्तं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति ।न वा अरे ब्रह्मणः कामाय ब्रह्म प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय ब्रह्म प्रियं भवति । न वा अरे क्षत्रस्य कामाय क्षत्रं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय क्षत्रं प्रियं भवति । न वा अरे लोकानां कामाय लोकाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति । न वा अरे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय देवाः प्रिया भवन्ति । न वा अरे भूतानां कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्त्यात्मनस्तु कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति । न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मा वा अरे द्रष्टव्यःश्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो । मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदꣳ सर्वं विदितम् ॥ ५॥

तब याज्ञवल्क ने कहा : हे मैत्रेयी ! यह निश्चय है की पति के प्रयोजन के लिए पति प्रिय नहीं होता, अपने ही प्रयोजन के लिए पति प्रिय होता है। स्त्री के प्रयोजन के लिए स्त्री प्रिय नहीं होती, अपने ही प्रयोजन के लिए स्त्री प्रिय होती है। पुत्रों के प्रयोजन के लिये पुत्र प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजन के लिये पुत्र प्रिय होते हैं। धन के प्रयोजन के लिये धन प्रिय नहीं होता, अपने ही प्रयोजन के लिये धन प्रिय होता है। ब्राह्मण के प्रयोजन के लिये ब्रह्मण प्रिय नहीं होता, अपने ही प्रयोजन के लिये ब्राह्मण प्रिय होता हैं। क्षत्रिय के प्रयोजन के लिये क्षत्रिय प्रिय नहीं होता, अपने ही प्रयोजन के लिए क्षत्रिय प्रिय होता है। लोकों के प्रयोजन के लिये लोक प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजन के लिये लोक प्रिय होते हैं। देवताओं के प्रयोजन के लिये देवता प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजन के लिये देवता प्रिय होते है। प्राणियों के प्रयोजन के लिये प्राणी प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजन के लिये

प्राणी प्रिय होते है। तथा सबके प्रयोजन के लिये सब प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजन के लिये सब प्रिय होते है। हे मैत्रेयी ! यह आत्मा ही दर्शनीय, श्रवणीय, मननीय और ध्यान किये जाने योग्य है। इस आत्मा के ही दर्शन, श्रवण, मनन और जानने से यह सब कुछ जाना जाता है। ॥५॥

ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्राऽऽत्मनो ब्रह्म वेद क्षत्रं तं
परादाद्योऽन्यत्राऽऽत्मनः क्षत्रं वेद लोकास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो
लोकान्वेद देवास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो देवान्वेद भूतानि तं
परादुर्योऽन्यत्रात्मनो भूतानि वेद सर्वं तं परादाद् योऽन्यत्रात्मनः
सर्वं वेदेदं ब्रह्मेदं क्षत्रमिमे लोका इमे देवा इमानि भूतानीदꣳ
सर्वं यदयमात्मा ॥ ६॥

ब्राहाण जाति उसे परास्त कर देती है, जो ब्रह्म को आत्मा से भिन्न जानता है। क्षत्रिय जाति उसे परास्त कर देती है, जो क्षत्रिय जाति को आत्मा से भिन्न देखता है। लोक उसे परास्त कर देते है, जो लोकों को आत्मा से भिन्न देखता है। देवगण उसे परास्त कर देते हैं, जो देवताओं को आत्मा से भिन्न देखता है। भूतगण उसे परास्त कर देते है, जो भूतों को आत्मा से भिन्न देखता है। सभी प्राणधारी उसे परास्त कर देते हैं, जो सभी प्राणधारियों को आत्मा से भिन्न देखता है। यह ब्रह्म, यह क्षत्र, यह लोक, यह देवगण, यह भूतगण और यह सब जो कुछ भी है, सब आत्मा ही हैं। ॥६॥

स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद् ग्रहणाय
दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो गृहीतः ॥ ७॥

यह इस तरह है कि जिस प्रकार बजती हुई दुन्दुभि के बाह्य शब्दों को कोई पकड नहीं सकता, किंतु दुन्दुभि के आघात को पकड़ लेने से उसका शब्द भी पकड़ लिया जाता है । ॥७॥

स यथा शङ्खस्य ध्मायमानस्य न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद् ग्रहणाय
शङ्खस्य तु ग्रहणेन शङ्खध्मस्य वा शब्दो गृहीतः ॥ ८॥

यह ऐसा है, जैसे कोई बजाये जाते हुए शंख के बाह्म शब्दों को ग्रहण करने में समर्थ नहीं होता, कितु शंख को अथवा शंख के बजाने वाले को पकड़ लेने से उसका शब्द भी पकड़ लिया जाता है। ॥८॥

स यथा वीणायै वाद्यमानायै न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद् ग्रहणाय
वीणायै तु ग्रहणेन वीणावादस्य वा शब्दो गृहीतः ॥ ९॥

यह ऐसा है, जैसे कोई बजायी जाती हुई वीणा के बाह्य शब्दों को ग्रहण प्राण काने में समर्थ नहीं होता; किंतु वीणा अथवा वीणा को बजाने वाले को पकड़ लेने पर उस शब्द को भी पकड़ लिया जाता है। ॥९॥

स यथाऽऽर्द्रैधाग्नेरभ्याहितात्पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं
वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यद्दग्वेदो यजुर्वेदः
सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः
सूत्राण्यनुव्याख्यानानि
व्याख्यानान्सामवेदसथर्वाङ्गिरससितिहासस्पुराणं
विद्यासुपनिषदस्श्लोकास्सूत्राणि अनुव्याख्यानानि व्याख्याननि
अस्यैवैतानि निःश्वसितानि ॥१०॥

वह ऐसा है, जिस प्रकार गीले ईंधन से प्रदीप्त अग्नि से अलग धुंए के बादल निकलते हैं। हे मैत्रेयी! इसी प्रकार यह जो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद, श्लोक, सूत्र, मन्त्रविवरण और अर्थवाद हैं, वह सब इस परमात्मा के ही निःश्वास हैं। ॥१०॥

स यथा सर्वासामपाꣳ समुद्र एकायनमेवꣳ सर्वेषाꣳ
स्पर्शानां त्वगेकायनमेवꣳ सर्वेषां गन्धानां नासिकैकायनं
एवꣳ सर्वेषाꣳ रसानां जिह्वैकायनमेवꣳ सर्वेषाꣳ
रूपाणां चक्षुरेकायनमेवꣳ सर्वेषाꣳ शब्दानाꣳ
श्रोत्रमेकायनमेवꣳ सर्वेषाꣳ सङ्कल्पानां मन एकायनं
एवꣳ सर्वासां विद्यानाꣳ हृदयमेकायनमेवꣳ सर्वेषां
कर्मणाꣳ हस्तावेकायनमेवꣳ सर्वेषामानन्दानामुपस्थ एकायनं
एवꣳ सर्वेषां विसर्गाणां पायुरेकायनमेवꣳ सर्वेषामध्वनां
पादावेकायनमेवꣳ सर्वेषां वदानां वागेकायनम् ॥११॥

यह ऐसा है, जैसे समस्त जलों का समुद्र एक अयन (आश्रय स्थान) है, इसी प्रकार समस्त स्पर्शों का त्वचा एक अयन है, इसी प्रकार समस्त गन्धों की दोनों नासिकाएँ एक अयन है, इसी प्रकार समस्त रसों की जिह्वा एक अयन है, इसी प्रकार समस्त रूपों का चक्षु एक अयन है, इसी प्रकार समस्त शब्दों का श्रोत एक अयन है, डसी प्रकार समस्त संकल्पों का मन एक अयन है, इसी प्रकार समस्त विद्याओं का हृदय एक अयन है, इसी प्रकार समस्त कर्मों का हस्त एक अयन है, इसी प्रकार समस्त आनंदों का उपस्थ एक अयन है

और इसी प्रकार समस्त विसर्गों का पायु एक अयन है, इसी प्रकार समस्त मार्गों का चरण एक अयन है और इसी प्रकार समस्त वेदों का वाणी एक अयन है। ॥११॥

स यथा सैन्धवखिल्य उदके प्रास्त उदकमेवानुविलीयेत न हास्योद्ग्रहणायेव न हास्योद्ग्रहणायैव स्याद् यतो यतस्त्वाददीत लवणमेवैवं वा अर इदं महद् भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय एतेभ्यस्भूतेभ्यस्समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य सञ्ज्ञाऽस्तीत्यरे ब्रवीमीति होवाच याज्ञवल्क्यः ॥१२॥

यह ऐसा है, जैसे जल में डाला हुआ नमक का टुकड़ा जल में ही घुल मिल जाता है, उसे किसी भी प्रकार जल से प्रथक नहीं निकाला जा सकता। चाहे जहाँ से भी जल लिया जाए वह नमकीन ही जान पड़ता है, हे मैत्रेयी! उसी प्रकार यह परमात्मत्तत्त्व अनन्त; अपार और विज्ञानघन ही हैं। यह इन भूतों से प्रकट होकर, इन्ही के साथ नाश को प्राप्त हो जाता है। देह-इन्द्रिय भाव से मुक्त होने पर इसकी कोई विशेष संज्ञा नहीं रहती। हे मैत्रेयी! ऐसा मैं तुझसे कहता हूँ - ऐसा याज्ञवल्क ने कहा। ॥१२॥

सा होवाच मैत्रेय्यत्रैव मा भगवानमूमुहद् न प्रेत्य सञ्ज्ञाऽस्तीति ।
स होवाच न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यलं वा अर इदं विज्ञानाय ॥ १३॥

मैत्रेयी ने कहा: 'मृत्यु के उपरांत कोई संज्ञा नहीं रहती ऐसा कहकर ही श्रीमान ने मुझे मोह में डाल दिया है।' याज्ञवल्क्यने कहा, 'हे मैत्रेयी!

मैं मोह का उपदेश नहीं कर रहा हूँ, हे मैत्रेयी! यह तो उस परमात्मा का विज्ञान कराने के लिये पर्याप्त है। ॥१३॥

यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं जिघ्रति तदितर इतरं पश्यति तदितर इतरꣳ शृणोति तदितर इतरमभिवदति तदितर इतरं मनुते तदितर इतरं विजानाति । यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं जिघ्रेत् तत्केन कं पश्येत् तत्केन कꣳ शृणुयात् तत्केन कमभिवदेत् तत्केन कं मन्वीत तत्केन कं विजानीयात् । येनेदꣳ सर्वं विजानाति तं केन विजानीयाद् विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति ॥१४॥

जहाँ अविद्यावस्था में द्वैत सा होता है, वहीं अन्य अन्य को सूंघता है, वही अन्य अन्य को देखता है, अन्य अन्य को सुनता है, अन्य अन्य का अभिवादन करता है, अन्य अन्य का मनन करता है तथा अन्य अन्य को जानता है। किंतु जहाँ इसके लिये सब आत्मा ही हो गया है वहाँ किसके द्वारा किसे सूंघे, किसके द्वारा किसे देखे, किसके द्वारा किसे सुने, किसके द्वारा किसका अभिवादन करे, किसके द्वारा किसका मनन करे और किसके द्वारा किसे जाने? जिसके द्वारा इस सबको जानता है, उसे किसके द्वारा जाने ? हे मैत्रेयी ! जानने वाले को किसके द्वारा जाने ? ॥१४॥

॥ इति चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

॥चतुर्थ ब्राह्मण समाप्त ॥

॥ श्री हरि ॥

॥बृहदारण्यकोपनिषद॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः - पञ्चमं ब्राह्मणम्

पांचवां ब्राह्मण

<u>मधु ब्राह्मण</u>

इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां मध्वस्यै पृथिव्यै सर्वाणि
भूतानि मधु यश्चायमस्यां पृथिव्यां तेजोमयोऽमृतमयः
पुरुषो यश्चायमध्यात्मꣳ शारीरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः
अमृतमयस्पुरुषसयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ
सर्वम् ॥ १॥

यह पृथिवी समस्त जीवों भूतों का मधु है और सब भूत इस पृथिवी के मधु हैं। इस पृथिवी में जो यह तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म में शरीर तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही निःसंदेह वह आत्मा है, यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है। ॥१॥

इमा आपः सर्वेषां भूतानां मध्वसामपाꣳ सर्वाणि भूतानि मधु
यश्चायमास्वप्सु तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः यश्चायमध्यात्मꣳ
रैतसस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतं
इदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥ २॥

ये जल समस्त जीवों का मधु हैं और समस्त भूत इन जलों के मधु हैं। इन जलों में जो यह तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म रैतस (वीर्य) में तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह आत्मा है। यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है ॥२॥

अयमग्निः सर्वेषां भूतानां मध्वस्याग्नेः सर्वाणि भूतानि मधु
यश्चायमस्मिन्नग्नौ तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं
वाङ्मयस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतं
इदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥ ३॥

यह अग्नि समस्त जीवों का मधु है और समस्त जीव इस अग्नि के मधु हैं । इस अग्नि में जो यह तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म मे वांग्मय (वाणी का अधिष्ठाता) तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह आत्मा है, यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है। ॥ ३॥

अयं वायुः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य वायोः सर्वाणि भूतानि मधु
यश्चायमस्मिन्वायौ तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं
प्राणस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतम्।
इदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥४॥

यह वायु समस्त जीवों का मधु है और समस्त जीव इस वायु के मधु हैं। इस वायु में जो यह तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म प्राणरूप (प्राण का अधिष्ठाता) तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह आत्मा है, यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है। ॥४॥

अयमादित्यः सर्वेषां भूतानां मध्वस्याऽऽदित्यस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नादित्ये तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं चाक्षुषस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥५॥

यह आदित्य समस्त जीवों का मधु है तथा समस्त जीव इस आदित्य के मधु हैं। यह जो इस आदित्य में तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म चाक्षुष (नेत्रों का अधिष्ठाता) तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह आत्मा है। यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है। ॥ ५ ॥

इमा दिशः सर्वेषां भूतानां मध्वासां दिशाꣳ सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमासु दिक्षु तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मꣳ श्रौत्रः प्रातिश्रुत्कस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥ ६॥

ये दिशाएँ समस्त जीवों का मधु हैं तथा समस्त जीव इन दिशाओं के मधु हैं। यह जो इन दिशाओं में तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म श्रोत्र सम्बन्धी तेजोमय अमृतमय पुरुष (श्रोत का अधिष्ठाता) है, यही आत्मा है। यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है। ॥६॥

अयं चन्द्रः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य चन्द्रस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिंश्चन्द्रे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं मानसस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥ ७॥

यह चन्द्रमा समस्त जीवों का मधु है और समस्त जीव इस चन्द्रमा के मधु है। यह जो इस चन्द्रमा में तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म मन सम्बन्धी (मन का अधिष्ठाता) तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही आत्मा है, यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है। ॥७॥

इयं विद्युत्सर्वेषां भूतानं मध्वस्यै विद्युतः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्यां विद्युति तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं तैजसस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतं इदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥८॥

यह विद्युत् समस्त जीवों का मधु है और समस्त जीव इस विद्युत् के मधु हैं । यह जो इस विद्युत् में तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म तैजस (तेज का अधिष्ठाता) अमृतमय पुरुष है, यही आत्मा है, यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है। ॥८॥

अयꣳ स्तनयित्नुः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य स्तनयित्नोः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्स्तनयित्नौ तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मꣳ शाब्दः सौवरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो ऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥९॥

यह मेघ समस्त जीवों का मधु है तथा समस्त जीव इस मेघ के मधु हैं । यह जो इस मेघ में तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म शब्द एवं स्वरसम्बन्धी (शब्द और अमृत का अधिष्ठाता) तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह यही आत्मा है, यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है। ॥ ९ ॥

अयमाकाशः सर्वेषां भूतानां मध्वस्याऽऽकाशस्य सर्वाणि
भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नाकाशे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो
यश्चायमध्यात्मꣳ हृद्याकाशस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः
ऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥१०॥

यह आकाश समस्त जीवों का मधु है तथा समस्त जीव इस आकाश के मधु हैं। यह जो इस आकाश में तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म हृदयाकाश रूप (हृदय में आकाश का अधिष्ठाता) तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही आत्मा है यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है। ॥१०॥

अयं धर्मः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य धर्मस्य सर्वाणि भूतानि मधु
यश्चायमस्मिन्धर्मे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं
धार्मस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतं
इदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥११॥

यह धर्म समस्त जीवों का मधु है तथा समस्त जीव इस धर्म के मधु हैं । इस धर्म में जो यह तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म धर्मसम्बन्धी (धर्म का अधिष्ठाता) तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है जो कि 'यह आत्मा है। यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है ॥११॥

इदꣳ सत्यꣳ सर्वेषां भूतानां मध्वस्य सत्यस्य सर्वाणि
भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्सत्ये तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो
यश्चायमध्यात्मꣳ सात्यस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स
योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥ १२॥

यह सत्य समस्त जीवों का मधु है और समस्त जीव इस सत्य के मधु हैं । यह जो इस सत्य में तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म सत्यसम्बन्धी (आध्यात्म में सत्य का अधिष्ठाता) तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह आत्मा है, यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है ॥ १२ ॥

इदं मानुषꣳ सर्वेषां भूतानां मध्वस्य मानुषस्य सर्वाणि
भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्मानुषे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो
यश्चायमध्यात्मं मानुषस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स
योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥१३॥

यह मनुष्य जाति समस्त जीवों का मधु है और समस्त जीव इस मनुष्य जाति के मधु हैं । यह जो मनुष्य जाति में तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म मानुष (विराट देह) तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह आत्मा है, यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है ॥ १३॥

अयमात्मा सर्वेषां भूतानां मध्वस्याऽऽत्मनः सर्वाणि भूतानि मधु
यश्चायमस्मिन्नात्मनि तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमात्मा
तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं
ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥१४॥

यह आत्मा समस्त जीवों का मधु है तथा समस्त जीव इस आत्मा के मधु हैं । यह जो इस आत्मा में तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो

यह आत्मा तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह आत्मा है, यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है । ॥१४॥

स वा अयमात्मा सर्वेषां भूतानामधिपतिः सर्वेषां भूताना॑ राजा । तद्यथा रथनाभौ च रथनेमौ चाराः सर्वे समर्पिता एवमेवास्मिन्नात्मनि सर्वाणि भूतानि सर्वे देवाः सर्वे लोकाः सर्वे प्राणाः सर्व एत आत्मानः समर्पिताः ॥ १५॥

यह आत्मा समस्त जीवों का अधिपति एवं समस्त जीवों का राजा है। जिस प्रकार रथ की नाभि और रथ की नेमि में सारे अरे समर्पित रहते हैं, इसी प्रकार इस आत्मा में समस्त जीव, समस्त देव, समस्त लोक, समस्त प्राण और ये सभी आत्मा समर्पित हैं। ॥१५॥

इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच । उवाच तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत् । तद्वां नरा सनये द॑स उग्रं आविष्कृणोमि तन्यतुर्न वृष्टिम् । दध्यङ् ह यन्मध्वाथर्वणो वां अश्वस्य शीर्ष्णा प्र यदीमुवाचेति ॥ १६॥

इस मधु को दध्यङ्ङाथर्वण (अथर्वा के पुत्र) ऋषि ने अश्विनीकुमारों से कहा था । इस मधु को देखते हुए ऋषि मन्त्र ने कहा- 'मेघ जिस प्रकार वृष्टि करता है, उसी प्रकार हे नराकार अश्विनीकुमारो ! मैं लाभ के लिये किये हुए तुम दोनों का वह उग्र तेजस्वी कर्म प्रकट किये देता हूँ, जिस मधु का दध्यङ्ङाथर्वण ऋषि ने तुम्हारे प्रति अश्व के सिर से वर्णन किया था ॥१६ ॥

इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच । तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत् । आथर्वणायाश्विनौ दधीचेऽश्व्य१ शिरः प्रत्यैरयतम् । स वां मधु प्रवोचदृतायन् त्वाष्ट्रं यद् दस्रावपि कक्ष्यं वामिति ॥ १७॥

इस मधु का दध्यङ्ङाथर्वणने अश्विनीकुमारों को उपदेश किया। इसे देखते हुए ऋषि (मन्त्रद्रष्टा) ने कहा है- हे अश्विनीकुमारो! तुम दोनों आथर्वण दध्य के लिये घोड़े का सिर लाये। उसने सत्यपालन करते हुए तुम्हें सूर्य सम्बन्धी मधु का उपदेश किया तथा हे दस्र (शत्रुहिंसक)! जो आत्मज्ञान सम्बन्धी गुप्त मधु था वह भी तुमसे कहा ॥१७॥

इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच । तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत् पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः । पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशदिति । स वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशयो नैनेन किंचनानावृतं नैनेन किंचनासंवृतम् ॥ १८॥

इस मधु का दध्यङ्ङाथर्वण ने अश्विनीकुमारों को उपदेश किया। इसे देखते हुए ऋषिने कहा-परमात्मा ने दो पैरों वाले शरीर बनाये और चार पैरों वाले शरीर बनाये । पहले वह पुरुष पक्षी होकर शरीरों में प्रविष्ट हो गया। वह यह पुरुष समस्त पुरों (शरीरों) में पुरिशय है अर्थात सभी शरीरों में विद्यमान है इसलिए पुरुष है। ऐसा कुछ भी नहीं है, जो पुरुष से ढका न हो तथा ऐसा भी कुछ नहीं है, जिसमें पुरुष का प्रवेश न हुआ हो, जो पुरुष से व्याप्त न हो ॥ १८ ॥

इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच । तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत् । रूपꣳरूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय । इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दशेतिययं वै हरयोऽयं वै दश च सहस्राणि बहूनि चानन्तानि च । तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्ममयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूरित्यनुशासनम् ॥१९॥

इस मधु का दध्यङ्ङाथर्वण ने अश्विनीकुमारों को उपदेश किया । यह देखते हुए ऋषिने कहा- हर एक रूप के वह प्रतिरूप हो गया। इसका वह रूप हमारे देखने के लिये है। ईश्वर माया से अनेक रूप प्रतीत होता है, शरीर रूप रथ में जोड़े हुए इसके इन्द्रिय रूप घोड़े शत और दश हैं। यह परमेश्वर ही हरि (इन्द्रियरूप अश्व) है, यही दश, सहस्र, अनेक और अनन्त है। यह ब्रह्म कारणरहित, कार्यरहित, विजातीय द्रव्य से रहित और अबाह्य है। यह आत्मा ही सबका अनुभव करनेवाला ब्रह्म है। यही समस्त वेदान्तों का उपदेश है। ॥१९॥

॥ इति पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥

॥ पांचवा ब्राह्मण समाप्त ॥

॥ श्री हरि ॥

॥बृहदारण्यकोपनिषद॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः - षष्ठं ब्राह्मणम्

छठा ब्राह्मण

वंश ब्राह्मण

अथ व९शः पौतिमाष्यो गौपवनाद् गौपवनः पौतिमाष्यात्
पौतिमाष्यो गौपवनाद् गौपवनः कौशिकात् कौशिकः कौण्डिन्यात्
कौण्डिन्यः शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यः कौशिकाच्च गौतमाच्च गौतमः
॥१॥

अब मधु काण्ड का वंश बतलाया जाता है - पौतिमाष्य ने गौपवन से, गौपवन ने पौतिमाष्य से, पौतिमाष्य ने गौपवन से, गौपवन ने कौशिक से, कौशिक ने कौण्डिन्य से, कौण्डिन्य ने शाण्डिल्य से, शाण्डिल्य ने कौशिक से और गौतम से, गौतम ने ॥१॥

आग्निवेश्यादग्निवेश्यः शाण्डिल्याच्चानभिम्लाताच्चानभिम्लात
आनभिम्लातादनभिम्लात अनभिम्लातादनभिम्लातो गौतमाद् गौतमः
सैतवप्राचीनयोग्याभ्या९, सैतवप्राचीनयोग्यौ पाराशर्यात्
पाराशर्यो भारद्वाजाद् भारद्वाजो भारद्वाजाच्च गौतमाच्च
गौतमो भारद्वाजाद् भारद्वाजः पाराशर्यात् पाराशर्यो वैजवापायनाद्
वैजवापायनः कौशिकायनेः कौशिकायनिः ॥ २॥

आग्निवेश्य से, आग्निवेश्य ने शाण्डिल्य से और आनभिम्लात से आनभिम्लात ने आनभिम्लात से, आनभिम्लात ने आनभिम्लात से, आनभिम्लात ने गौतम से, गौतम ने सैतव और प्राचीनयोग्य से, सैतव और प्राचीनयोग्य ने पाराशर्य से, पाराशर्य ने भारद्वाज से, भारद्वाज ने भारद्वाज से और गौतम से, गौतम ने भारद्वाज से, भारद्वाज ने पाराशर्य से, पाराशर्य ने बैजवापायन से, बैजवापायन ने कौशिकायनि से, कौशिकायनि ने ॥२॥

घृतकौशिकाद् घृतकौशिकः पाराशर्यायणात् पारशर्यायणः
पाराशर्यात् पाराशर्यो जातूकर्ण्याज् जातूकर्ण्य आसुरायणाच्च
यास्काच्च्ऽऽसुरायणस्त्रैवणेस्त्रैवणिरौपजन्धनेरौपजन्धनिरासुरासुरि
र्भारद्वाजाद् भारद्वाज आत्रेयादत्रेयो माण्टेर्माण्टिर्गौतमाद् गौतमो
गौतमाद् गौतमो वात्स्याद् वात्स्यः शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यः
कैशोर्यात्काप्यात् कैशोर्यः काप्यः कुमारहारितात् कुमारहारितो
गालवाद् गालवो विदर्भीकौण्डिन्याद् विदर्भीकौण्डिन्यो वत्सनपातो
बाभ्रवाद् वत्सनपाद्बाभ्रवः पथः सौभरात् पन्थाः
सौभरोऽयास्यादाङ्गिरसादयास्य आङ्गिरस
आभूतेस्त्वाष्ट्रादाभूतिस्त्वाष्ट्रो विश्वरूपात्त्वाष्ट्राद्
विश्वरूपस्त्वाष्ट्रोऽश्विभ्यामश्विनौ दधीच आथर्वणाद्
दध्यङ्ङाथर्वणोऽथर्वणो दैवादथर्वा दैवो मृत्योः
प्राध्वꣳसनान् मृत्युः प्राध्वꣳसनः प्रध्वꣳसनात्
प्रध्वꣳसन एकर्षेः एकर्षिर्विप्रचित्तेर्विप्रचित्तिर्व्यष्टेर्व्यष्टिः
सनारोः सनारुः सनातनात् सनातनः सनगात् सनगः परमेष्ठिनः
परमेष्ठी ब्रह्मणो ब्रह्म स्वयम्भु ब्रह्मणे नमः ॥ ३॥

घृतकौशिक से, घृतकौशिक ने पाराशर्यायण से, पाराशर्यायण ने पाराशर्य से, पाराशर्य ने जातूकर्ण्य से, जातूकर्ण्य ने आसुरायण से और यास्क से, आसुरायण ने त्रैवणि से, त्रैवणि ने औपजन्धनि से, औपजन्धनि ने आसुरि से, आसुरि ने भारद्वाज से, भारद्वाज ने आत्रेय से, आत्रेय ने माण्टि से, माण्टि ने गौतम से, गौतम ने गौतम से, गौतम ने वात्स्य से, वात्स्य ने शाण्डिल्य से, शाण्डिल्य ने कैशोर्य काप्य से, कैशोर्य काप्य ने कुमार हारित से, कुमार हारित ने गालव से, गालव ने विदर्भीकौण्डिन्य से, विदर्भी कौण्डिन्य ने वत्सनपात् बाभ्रव से, वत्सनपात् बाभ्रव ने पन्था सौभर से, पन्था सौभर ने अयास्य आङ्गिरस से, अयास्य आङ्गिरस ने आभूति त्वाष्ट्र से, आभूति त्वाष्ट्र ने विश्वरूप त्वाष्ट्र से, विश्वरूप त्वाष्ट्र ने अश्विनीकुमारों से, अश्विनीकुमारों ने दध्यङ्ङाथर्वण से, दध्यङ्ङाथर्वणने अथर्वा दैव से, अथर्वा देव ने मृत्यु-प्राध्वंसन से, मृत्यु-प्राध्वंसन ने प्रध्वंसन से, प्रध्वंसन ने एकर्षि से, एकर्षि ने विप्रचित्ति से, विप्रचित्ति ने व्यष्टि से, व्यष्टि ने सनारु से, सनारु ने सनातन से, सनातन ने सनग से, सनग ने परमेष्ठी से और परमेष्ठी ने ब्रह्मा से इसे प्राप्त किया। ब्रह्मा स्वयम्भु है, ब्रह्मा को नमस्कार है। ॥३॥

॥इति षष्ठं ब्राह्मणम् ॥

॥छठा ब्राह्मण समाप्त ॥

॥ इति बृहदारण्यकोपनिषदि द्वितीयोऽध्यायः॥

॥ बृहदारण्य उपनिषद का दूसरा अध्याय समाप्त ॥

॥ श्री हरि ॥

॥बृहदारण्यकोपनिषद॥

अथ तृतीयोध्यायः - प्रथमं ब्राह्मणम्

तृतीय अध्याय

प्रथम ब्राह्मण

आश्वल ब्राह्मण

ॐ जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे । तत्र ह कुरुपञ्चालानां ब्राह्मणा अभिसमेता बभूवुस्तस्य ह जनकस्य वैदेहस्य विजिज्ञासा बभूव कः स्विदेषां ब्राह्मणानामनूचानतम इति । स ह गवाꣳ सहस्रमवरुरोध दशदश पादा एकैकस्याः शृङ्गयोराबद्धा बभूवुः ॥१॥

जनक वैदेह ने एक बहुत दक्षिणा वाला (अश्वमेध) यज्ञ किया। वहाँ कुरुओं और पंचालों के ब्राह्मण इक्कठे हुए थे। राजा जनक को यह जाननेकी इच्छा हुई, कि इन ब्राह्मणों में अनुवचन (प्रवचन) करने में सबसे बढ़कर कौन है? इसलिये उसने एक सहस्र गौएँ गोशालामें रोक लीं। उनमें से प्रत्येक के सींगों में दस-दस पाद (सोने का सिक्का) सुवर्ण बँधे हुए थे। ॥१॥

तान्होवाच ब्राह्मणा भगवन्तो यो वो ब्रह्मिष्ठः स एता गा उदजतामिति । ते ह ब्राह्मणा न दधृषुरथ ह याज्ञवल्क्यः स्वमेव ब्रह्मचारिणमुवाचैताः सौम्योदज सामश्रवा३ इति । ता होदाचकार । ते ह ब्राह्मणाश्चुक्रुधुः कथं नु नो ब्रह्मिष्ठो ब्रुवीतेत्यथ ह जनकस्य वैदेहस्य होताऽश्वलो बभूव । स हैनं पप्रच्छ त्वं नु खलु नो याज्ञवल्क्य ब्रह्मिष्ठोऽसी३ इति । स होवाच नमो वयं ब्रह्मिष्ठाय कुर्मो गोकामा एव वयꣳ स्म इति । तꣳ ह तत एव प्रष्टुं दध्रे होताऽश्वलः ॥ २॥

जनक ने उनसे कहा- 'पूज्य ब्राह्मणगण! आप सभी में जो श्रेष्ठ ब्रह्म हो वह इन गौओं को ले जाय।' किंतु उन ब्राह्मणों में से किसी का साहस नही हुआ। तब याज्ञवल्क्य ने अपने एक ब्रह्मचारी से कहा, 'हे सोम्य सामश्रवा ! तुम इन्हें ले जाओ। तब वह उन्हें घेर कर ले चला। यह देख कर वह ब्राह्मण क्रुद्ध हुए की यह हम सब में से यह अपने आप को वरिष्ठ कैसे कहता है। अब जो उनमें विदेहराज जनक का होता अश्वल था, उसने याज्ञवल्क्य को पूछा, 'याज्ञवल्क्य! क्या हम सभी में तुम ही श्रेष्ठ हो ?' उसने कहा, ' हम सबसे बढ़ कर ब्रह्म को हम नमस्कार करते हैं, हम तो केवल गौओं की ही इच्छा रखते हैं।' इसी से होता अश्वल ने उनसे प्रश्न करने का निश्चय किया। ॥२॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदꣳ सर्वं मृत्युनाऽऽप्तꣳ, सर्वं मृत्युनाऽभिपन्नं केन यजमानो मृत्योराप्तिमतिमुच्यत इति । होत्रर्त्विजाऽइना वाचा वाग्वै यज्ञस्य होता । तद्येयं वाक् सोऽयमग्निः स होता सा मुक्तिः साऽतिमुक्तिः ॥ ३॥

अश्वल ने पूछा: हे याज्ञवल्क्य! 'यह सब जो मृत्यु से व्याप्त है, मृत्यु द्वारा वश में किया हुआ है, तो फिर किस साधन से यजमान मृत्यु की पहुँच से पूर्णत: मुक्त हो सकता है?'

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: वह यजमान होता ऋत्विक रूप अग्नि से और वाणी द्वारा मृत्यु से पूर्णत: मुक्त हो सकता है। वाणी ही यज्ञ का होता है, यह जो वाणी है, वही यह अग्नि है, वह होता है, वह मुक्ति है और वही अतिमुक्ति है। ॥ ३ ॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिद१ँ सर्वमहोरात्राभ्यामाप्त१ँ,
सर्वमहोरात्राभ्यामभिपन्नं केन यजमानोऽहोरात्रयोराप्तिमतिमुच्यत
इत्यध्वर्युणर्त्विजा चक्षुषाऽऽदित्येन चक्षुर्वै
यज्ञस्याध्वर्युस्तद्यदिदं चक्षुः सोऽसावादित्यः सोऽध्वर्युः सा
मुक्तिः साऽतिमुक्तिः ॥४॥

अश्वल ने पूछा: हे याज्ञवल्क्य ! 'यह जो भी कुछ है, सब दिन और रात्रि से व्याप्त है, सब दिन और रात्रिके अधीन है। तब किस साधन के द्वारा यजमान दिन और रात्रि की पहुँच से अतिमुक्त हो सकता है?'

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: अध्वर्यु-ऋत्विक और नेत्र रूप सूर्य के द्वारा। अध्वर्यु यज्ञ का नेत्र है । अतः यह जो नेत्र है, वह यह सूर्य है और वह अध्वर्यु है, वह मुक्ति है और वही अतिमुक्ति है। ॥४॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिद१ँ सर्वं
पूर्वपक्षापरपक्षाभ्यामाप्त१ँ, सर्वं

पूर्वपक्षापरपक्षाभ्यामभिपन्नं केन यजमानः
पूर्वपक्षापरपक्षयोराप्तिमतिमुच्यत इत्युद्गात्रर्त्विजा वायुना प्राणेन
प्राणो वै यज्ञस्योद्गाता । तद्योऽयं प्राणः स वायुः स उद्गाता सा मुक्तिः
साऽतिमुक्तिः ॥५॥

अश्वल ने पूछा: हे याज्ञवल्क्य ! 'यह जो कुछ है, सब पूर्वपक्ष (शुक्ल पक्ष जिसमें चंद्रमा बढ़ता है) और अपरपक्ष (कृष्ण पक्ष- जिसमें चंद्रमा घटता है से व्याप्त है। सब पूर्वपक्ष और अपरपक्ष द्वारा वश में किया हुआ है। तो फिर किस उपाय से यजमान पूर्व पक्ष और अपर पक्ष की व्याप्ति से पार होकर मुक्त होता है?

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: उद्गाता-ऋत्विक से और वायु रूप प्राण से; क्योंकि उद्गाता यज्ञ का प्राण ही है। तथा यह जो प्राण है, वही वायु है, वही उद्गाता है, वही मुक्ति है और वही अतिमुक्ति है। ॥५॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदमन्तरिक्षमनारम्बणमिव केनाऽऽक्रमेन
यजमानः स्वर्गं लोकमाक्रमत इति ब्रह्मणर्त्विजा मनसा चन्द्रेण
मनो वै यज्ञस्य ब्रह्मा । तद्यदिदं मनः सोऽसौ चन्द्रः स ब्रह्मा
सा मुक्तिः सातिमुक्तिरित्यतिमोक्षा अथ सम्पदः ॥ ६ ॥

अश्वल ने पूछा: हे याज्ञवल्क्य! यह जो अन्तरिक्ष है, वह निरालम्ब सा अर्थात बिना सहारे अथवा सीढ़ी के है। अतः यजमान किस आलम्बन (सहारे अथवा चढाव) से स्वर्गलोक में चढ़ता है।

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: ब्रह्मा ऋत्विज के द्वारा और मन रूप चन्द्रमा से। ब्रह्मा यज्ञ का मन ही है और यह जो मन है, वही यह

चन्द्रमा है, वह ब्रह्मा है, वह मुक्ति है और वही अतिमुक्ति है। इस प्रकार अतिमोक्षोंका वर्णन हुआ, अब सम्पदों का निरूपण किया जाता है। ॥६॥

याज्ञवल्क्येति होवाच कतिभिरयमद्यर्ग्भिर्होतास्मिन्यज्ञे करिष्यतीति । तिसृभिरिति । कतमास्तास्तिस्र इति । पुरोनुवाक्या च याज्या च शस्यैव तृतीया । किं ताभिर्जयतीति । यत् किञ्चेदं प्राणभृदिति ॥ ७॥

अश्वल ने पूछा: हे याज्ञवल्क्य ! आज कितनी ऋचाओं के द्वारा होता इस यज्ञ में शस्त्र-शंसन करेगा ?

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: तीन के द्वारा।

अश्वल ने पूछा: वे तीन कौन-सी हैं?

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: पुरोनुवाक्या, याज्या और तीसरी शस्या[15]।

अश्वल ने पूछा: इनसे यजमान किसको जीतता है?

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: यह जितना भी प्राणिसमुदाय है, उस सबको जीत लेता है। ॥७॥

---

[15] पुरोनुवाक्या – जो यजन में हवि डालने से पूर्ण पढ़ी जाती है। याज्या- जो यजन काल में पढ़ी जाती है। शस्या – जिससे स्तुति की जाती है ।

याज्ञवल्क्येति होवाच कत्ययमद्याध्वर्युरस्मिन्यज्ञ आहुतीर्होष्यतीति । तिस्र इति । कतमास्तास्तिस्र इति । या हुता उज्ज्वलन्ति या हुता अतिनेदन्ते या हुता अधिशेरते । किं ताभिर्जयतीति । या हुता उज्ज्वलन्ति देवलोकमेव ताभिर्जयति दीप्यत इव हि देवलोको । या हुता अतिनेदन्ते पितृलोकमेव ताभिर्जयत्यतीव हि पितृलोको । या हुता अधिशेरते मनुष्यलोकमेव ताभिर्जयत्यध इव हि मनुष्यलोकः ॥८॥

अश्वल ने पूछा: हे याज्ञवल्क्य! आज इस यज्ञ में यह अध्वर्यु कितनी आहुतियाँ होम करेगा?

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: तीन।

अश्वल ने पूछा: वह तीन कौन-कौन-सी हैं?

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: 'जो होम की जानेपर प्रज्वलित होती हैं, जो होम की जानेपर अत्यन्त शब्द करती हैं और जो होम की जानेपर पृथ्वीके ऊपर लीन हो जाती हैं।

अश्वल ने पूछा: 'इनके द्वारा यजमान किसको जीतता है ?'

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: 'जो होम की जानेपर प्रज्वलित होती हैं, उनसे यजमान देवलोकको ही जीत लेता है; क्योंकि देवलोक मानो देदीप्यमान हो रहा है। जो होम की जानेपर अत्यन्त शब्द करती हैं,

उनसे वह पितृलोकको ही जीत लेता है; क्योंकि पितृलोक मानो अत्यन्त शब्द करनेवाला है। जो होम की जानेपर पृथ्वीपर लीन हो जाती हैं, उनसे मनुष्यलोकको ही जीतता है; क्योंकि मनुष्यलोक अधोवर्ती-सा है॥८॥

याज्ञवल्क्येति होवाच कतिभिरयमद्य ब्रह्मा यज्ञं दक्षिणतो देवताभिर्गोपायतीत्येकयेति । कतमा सैकेति । मन एवेत्यनन्तं वै मनो ंअन्ता विश्वे देवा अनन्तमेव स तेन लोकं जयति ॥ ९॥

अश्वल ने पूछा: 'आज यह ब्रह्मा यज्ञमें दक्षिणकी ओर बैठकर कितने देवताओंद्वारा यज्ञकी रक्षा करता है ? [

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: एक के द्वारा।

अश्वल ने पूछा: 'वह एक देवता कौन है ?

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: वह मन ही है । मन अनन्त है और विश्वेदेव भी अनन्त हैं; अतः उस मनसे यजमान अनन्त लोकको जीत लेता है । ॥९॥

याज्ञवल्क्येति होवाच कत्ययमद्योद्गाताऽस्मिन्यज्ञे स्तोत्रियाः स्तोष्यतीति। तिस्र इति । कतमास्तास्तिस्र इति । पुरोनुवाक्या च याज्या च शस्यैव तृतीया कतमास्ता या अध्यात्ममिति । प्राण एव पुरोनुवाक्याऽपानो याज्या व्यानः शस्या । किं ताभिर्जयतीति ।

पृथिवीलोकमेव पुरोनुवाक्यया जयत्यन्तरिक्षलोकं याज्यया
द्युलोकꣳ शस्यया ततो ह होताऽश्वल उपरराम ॥ १०॥

अश्वल ने पूछा: 'आज इस यज्ञमें उद्गाता कितनी स्तोत्रिया ऋचाओंका स्तवन करेगा?'
याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: तीन का ।

अश्वल ने पूछा: 'वे तीन कौन-सी हैं ?
याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: 'पुरोनुवाक्या, याज्या और तीसरी शस्या ।

अश्वल ने पूछा: इनमें जो शरीरान्तर्वती हैं, वे कौन-सी हैं ?
याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: 'प्राण ही पुरोनुवाक्या है; अपान याज्या है और व्यान शस्या है।'

अश्वल ने पूछा: 'इनसे यजमान किन पर जय प्राप्त करता है ?
याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: 'पुरोनुवाक्या से पृथिवीलोक पर जय प्राप्त करता है, तथा याज्या से अन्तरिक्ष लोक पर और शस्या से द्युलोक पर विजय प्राप्त करता है। इसके पश्चात् होता अश्वल चुप हो गया ॥१०॥

॥ इति प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

॥ प्रथम ब्राह्मण समाप्त ॥

॥ श्री हरि ॥

॥बृहदारण्यकोपनिषद॥

अथ तृतीयोध्यायः - द्वितीयं ब्राह्मणम्

द्वितीय ब्राह्मण

आर्तभाग ब्राह्मण

अथ हैनं जारत्कारव आर्तभागः पप्रच्छ । याज्ञवल्क्येति होवाच
कति ग्रहाः कत्यतिग्रहा इत्यष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहा इति ये तेऽष्टौ
ग्रहा अष्टावतिग्रहाः कतमे त इति ॥ १॥

फिर उन याज्ञवल्क्य से जारत्कारव आर्तभागने पूछा; वह बोला, हे याज्ञवल्क्य! ग्रह कितने हैं और अतिग्रइ कितने हैं ?

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: आठ ग्रह हैं और आठ अतिग्रह हैं।

आर्तभाग ने पूछा: वे जो आठ ग्रह और आठ अतिग्रह हैं, वे कौन-से हैं ? ॥ १ ॥

प्राणो वै ग्रहः । सोऽपानेनातिग्राहेण गृहीतोऽपानेन हि
गन्धाञ्जिघ्रति ॥ २॥

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: प्राण ही ग्रह है, वह अपान रूप (सांस अन्दर खींचना) अतिग्राह से जकड़ा हुआ है, क्योंकि प्राणी अपान से ही गन्धों को सूंघता है। ॥२॥

वाग्वै ग्रहः । स नाम्नातिग्राहेण गृहीतो वाचा हि नामान्यभिवदति ॥ ३॥

वाणी ही ग्रह है, वह नाम रूप अतिग्राह से जकड़ा हुआ है, क्योंकि प्राणी वाणी ही नामों का उच्चारण करता है। ॥३॥

जिह्वा वै ग्रहः । स रसेनातिग्राहेण गृहीतो जिह्वया हि रसान्विजानाति ॥ ४॥

जिह्वा ही ग्रह है, वह रसरूप अतिग्रह से जकड़ा हुआ है, क्योंकि प्राणी जिह्वा से ही रसों को विशेषरूप से जानता है ॥ ४ ॥

चक्षुर्वै ग्रहः । स रूपेणातिग्राहेण गृहीतश्चक्षुषा हि रूपाणि पश्यति ॥ ५॥

नेत्र ही ग्रह है, वह रूप अतिग्रह से जकड़ा हुआ है, क्योंकि प्राणी चक्षु से ही रूपों को देखता है ॥ ५॥

श्रोत्रं वै ग्रहः । स शब्देनातिग्राहेण गृहीतः श्रोत्रेण हि शब्दाञ्शृणोति ।

श्रोत्र ही ग्रह है, वह शब्दरूप अतिग्रह से जकड़ा हुआ है, क्योंकि प्राणी श्रोत्र से ही शब्दों को सुनता है ॥ ६॥

मनो वै ग्रहः । स कामेनातिग्राहेण गृहीतो मनसा हि कामान्कामयते ॥ ७॥

मन ही ग्रह है, वह कामरूप अतिग्रह से जकड़ा हुआ है, क्योंकि प्राणी मनसे ही कामों की कामना करता है ।। ७॥

हस्तौ वै ग्रहः । स कर्मणाऽतिग्राहेण गृहीतो हस्ताभ्याꣳ हि कर्म करोति ॥ ८॥

हस्त ही ग्रह हैं, वे कर्मरूप अतिग्रह से जकड़ा हुए हैं, क्योंकि प्राणी हाथों से ही कर्म करता है ॥ ८ ॥

त्वग्वै ग्रहः । स स्पर्शेनातिग्राहेण गृहीतस्त्वचा हि स्पर्शान्वेदयत । इत्येतेऽष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहाः ॥ ९॥

त्वचा ही ग्रह है, वह स्पर्शरूप अतिग्रह से जकड़ा हुआ है; क्योंकि प्राणी त्वचा से ही स्पर्श को जानता है । इस प्रकार ये आठ ग्रह हैं और आठ अतिग्रह हैं ॥ ९॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदꣳ सर्वं मृत्योरन्नं का स्वित्सा देवता यस्या मृत्युरन्नमित्यग्निर्वै मृत्युः सोऽपामन्नमप पुनर्मृत्युं जयति ॥ १०॥

आर्तभाग ने पूछा: हे याज्ञवल्क्य! यह जो कुछ है सब मृत्युका खाद्य है; सो वह देवता कौन है, जिसका खाद्य मृत्यु है।

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: अग्नि ही मृत्यु है, वह जलका खाद्य है। इस प्रकार के ज्ञान से पुनर्मृत्यु का पराजय होता है।॥ १० ॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यत्रायं पुरुषो म्रियत उदस्मात्प्राणाः क्रामन्त्यहो३ नेति नेति होवाच याज्ञवल्क्योऽत्रैव समवनीयन्ते स उच्छ्वयत्याध्मायति आध्मातो मृतः शेते ॥ ११॥

आर्तभाग ने पूछा: हे याज्ञवल्क्य! जिस समय यह मनुष्य मरता है, उस समय इसके प्राणों का उत्क्रमण होता है या नहीं ?

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: नहीं, नहीं ऐसा नहीं होता। प्राण यहाँ ही लीन हो जाते हैं। वह फूल जाता है, अर्थात् वायु को भीतर खींचता है और वायु से पूर्ण हुआ ही मृत होकर पड़ा रहता है। ॥११॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यत्रायं पुरुषो म्रियते किमेनं न जहातीति । नामेत्यनन्तं वै नामानन्ता विश्वे देवा अनन्तमेव स तेन लोकं जयति ॥ १२॥

आर्तभाग ने पूछा: हे याज्ञवल्क्य! जिस समय यह पुरुष मरता है, उस समय इसे क्या नहीं छोड़ता ?

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: नाम नहीं छोड़ता, नाम अनन्त ही हैं, विश्वेदेव भी अनन्त ही हैं। इस अनंत के जान लेने से वह अनन्त लोक को ही जीत लेता है ॥१२॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणश्चक्षुरादित्यं मनश्चन्द्रं दिशः श्रोत्रं पृथिवीꣳ शरीरमाकाशमात्मौषधीर्लोमानि वनस्पतीन्केशा अप्सु लोहितं च रेतश्च निधीयते क्वायं तदा पुरुषो भवतीत्यहर सौम्य हस्तं आर्तभागेति होवाऽऽचावामेवैतस्य वेदिष्यावो न नावेतत्सजन इति । तौ होत्क्रम्य मन्त्रयां चक्राते तौ ह यदूचतुः कर्म हैव तदूचतुरथ ह यत्प्रशꣳसतुः कर्म हैव तत् प्रशꣳसतुः पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेनेति । ततो ह जारत्कारव आर्तभाग उपरराम ॥ १३॥

आर्तभाग ने पूछा: हे याज्ञवल्क्य! जिस समय इस मृतपुरुष की वाणी अग्नि में लीन हो जाती है तथा प्राण वायु में लीन हो जाते हैं। नेत्र सूर्य में लीन हो जाते हैं, मन चन्द्रमा में लीन हो जाता है, श्रोत्र दिशा में लीन हो जाते हैं, शरीर पृथिवी में लीन हो जाता है, हृदयाकाश भूताकाश में लीन हो जाता है, रोम ओषधियों में और केश वनस्पतियों में लीन हो जाते हैं तथा रक्त और वीर्य जल में स्थापित हो जाते हैं, उस समय यह पुरुष कहाँ रहता है?

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: हे प्रियदर्शन आर्तभाग ! तू मुझे अपना हाथ पकड़ा, हम दोनों ही इस प्रश्नका उत्तर जानेंगे; यह प्रश्न जनसमुदायमें होने योग्य नहीं है।

तब उन दोनों ने सभा मे से उठ कर एकान्त में विचार किया। उन्होंने जो कुछ कहा वह कर्म ही कहा, तथा जिसकी प्रशंसा की वह कर्म की ही प्रशंसा की। वह यह कि पुरुष पुण्यकर्म से पुण्यवान् होता है और पापकर्म से पापी होता है, इसके पश्च्यात जारत्कारव आर्तभाग चुप हो गया ॥ १३ ॥

॥ इति द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

॥ द्वितीय ब्राह्मण समाप्त ॥

॥ श्री हरि ॥

॥बृहदारण्यकोपनिषद॥

अथ तृतीयोध्यायः - तृतीयं ब्राह्मणम्

तृतीय ब्राह्मण

भुज्यु ब्राह्मण

अथ हैनं भुज्युर्लाह्यायनिः पप्रच्छ । याज्ञवल्क्येति
होवाच मद्रेषु चरकाः पर्यव्रजाम ते पतञ्चलस्य काप्यस्य
गृहानैम । तस्याऽऽसीद् दुहिता गन्धर्वगृहीता तमपृच्छाम
कोऽसीति । सोऽब्रवीत् सुधन्वाऽऽङ्गिरस इति । तं यदा
लोकानामन्तानपृच्छामाथैतदथैनमब्रूम क्व पारिक्षिता अभवन्निति
क्व पारिक्षिता अभवन् स त्वा पृच्छामि याज्ञवल्क्य क्व पारिक्षिता
अभवन्निति ॥ १॥

फिर याज्ञवल्क्य से लाह्यायनि (लह्य के पोते) भुज्युने पूछा: हे याज्ञवल्क्य ! हम व्रताचरण करते हुए मद्र देश में विचर रहे थे कि कपि गोत्रोत्पन्न पतञ्चल के घर पहुँचे। उसकी पुत्री गन्धर्व के वशीभूत थी अर्थात् उस पर गन्धर्व का आवेश था। हमने उससे पूछा, 'तू कौन है ?' वह बोला 'आङ्गिरस सुधन्वा हूँ ।' जब उससे लोकों के अन्तके विषयमें पूछा तो उसने कहा, पारिक्षित कहाँ रहे ! पारिक्षित कहाँ रहे ?' सो हम आपसे पूछते हैं कि 'पारिक्षित कहाँ रहे ?' ॥ १ ॥

स होवाचोवाच वै सोऽगच्छन्वै ते तद् यत्राश्वमेधयाजिनो गच्छन्तीति । क्व न्वश्वमेधयाजिनो गच्छन्तीति । द्वात्रिꣳशतं वै देवरथाह्न्यान्ययं लोकस्तꣳ समन्तं पृथिवी द्विस्तावत्पर्येति ताꣳ समन्तं पृथिवी द्विस्तावत्समुद्रः पर्येति । तद्यावती क्षुरस्य धारा यावद्वा मक्षिकायाः पत्रं तावानन्तरेणाऽऽकाशस्तान् इन्द्रः सुपर्णो भूत्वा वायवे प्रायच्छत् तान् वायुरात्मनि धित्वा तत्रागमयद्यत्र अश्वमेधयाजिनोऽभवन्नित्येवमिव वै स वायुमेव प्रशशꣳस तस्माद्वायुरेव व्यष्टिर्वायुः समष्टिरप पुनर्मृत्युं जयति य एवं वेद । ततो ह भुज्युर्लाह्यायनिरुपरराम ॥ २॥

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: उस गन्धर्व ने निश्चयही यह कहा था कि वे वहाँ चले गये, जहाँ अश्वमेध यज्ञ करनेवाले जाते हैं।

भुज्यु ने पूछा: अच्छा तो बताइये, अश्वमेध यज्ञ करें वाले कहाँ जाते हैं ?

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: देवरथ सूर्य की जितनी बत्तीस दिन की यात्रा है, उतना ही यह लोक है। उसे चारों ओर उससे दुगनी पृथिवी घेरे हुए है। उस पृथिवी को सब ओर से दुगना समुद्र घेरे हुए है। सो जितनी पतली छुरे की धार होती है, अथवा जितना सूक्ष्म मक्खी का पंख होता है, उतना उन अण्डकपालों[16] के मध्य में आकाश है । इन्द्र (चित्य अग्नि) ने पक्षी बनकर उन पारिक्षितों को वायु को दिया। उन्हें

[16] ब्रह्माण्ड के दोनों कपोलों के मध्य मे

वायु अपने स्वरूप में स्थापित कर वहाँ ले गया, जहाँ अश्वमेध यज्ञ करने वाले रहते हैं। इस प्रकार उस गन्धर्व ने वायु की ही प्रशंसा की थी। अतः वायु ही व्यष्टि है और वायु ही समष्टि है। जो ऐसा जानता है, वह पुनर्मुत्युको जीत लेता है। तब लाह्यायनि भुज्यु चुप हो गया। ॥२॥

॥ इति तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

॥ तीसरा ब्राह्मण समाप्त॥

॥ श्री हरि ॥

॥बृहदारण्यकोपनिषद॥

अथ तृतीयोध्यायः - चतुर्थ ब्राह्मणम्

चतुर्थ ब्राह्मण

उषस्त ब्राह्मण

अथ हैनमूषस्तश्चाक्रायणः पप्रच्छ । याज्ञवल्क्येति होवाच यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्वेत्येष त आत्मा सर्वान्तरः । कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरो । यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तरो योऽपानेनापानिति स त आत्मा सर्वान्तरो यो व्यानेन व्यानिति स त आत्मा सर्वान्तरो य उदानेनोदानिति स त आत्मा सर्वान्तर एष त आत्मा सर्वान्तरः ॥ १॥

फिर उस याज्ञवल्क्य से चाक्रायण उषस्त ने पूछा: हे याज्ञवल्क्य ! जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म और सर्वान्तर आत्मा है, उसकी मेरे प्रति व्याख्या करो।

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: 'यह तेरा आत्मा ही सर्वान्तर है।

उषस्त ने पूछा: हे याज्ञवल्क्य! वह सर्वान्तर कौन-सा है ?

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: 'जो प्राणसे प्राण क्रिया (सांस लेता है) करता है, वह तेरा आत्मा सर्वान्तर है। जो अपान से अपान क्रिया (अपान क्रिया) करता है, वह तेरा आत्मा सर्वान्तर है। जो व्यान से व्यान क्रिया करता है, वह तेरा आत्मा सर्वान्तर है। जो उदान से उदानक्रिया (ऊपर उठाता) है, वह तेरा आत्मा सर्वान्तर है । यह तेरा आत्मा सर्वान्तर है। ॥१॥

स होवाचोषस्तश्चाक्रायणः यथा विब्रूयादसौ गौरसावश्व
इत्येवमेवैतद्व्यपदिष्टं भवति । यदेव साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म
य आत्मा सर्वान्तरः तं मे व्याचक्ष्वेति । एष त आत्मा सर्वान्तरः ।
कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरो । न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येर्न श्रुतेः
श्रोतारꣳ शृणुया न मतेर्मन्तारं मन्वीथा न विज्ञातेर्विज्ञातारं
विजानीया एष त आत्मा सर्वान्तरोऽतोऽन्यदार्तं ततो
होषस्तस्चाक्रायण
उपरराम ॥ २॥

उषस्त ने पूछा: जिस प्रकार कोई चलना और दौड़ना दिखाकर कहे कि यह चलने वाला बैल है और यह दौड़नेवाला घोड़ा है, उसी प्रकार तुम्हारा यह कथन है; अतः जो भी साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म और सर्वान्तर आत्मा है, उसे तुम स्पष्टतया बतलाओ।

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: यह तेरा आत्मा सर्वान्तर है।

उषस्त ने पूछा: 'हे याज्ञवल्क्य ! वह सर्वान्तर कौन-सा है ?

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: तुम दृष्टि के द्रष्टा को नहीं देख सकते, श्रुति के श्रोता को नहीं सुन सकते, मति के मन्ता का मनन नहीं कर सकते, विज्ञाति के विज्ञाता को नहीं जान सकते। तुम्हारा यह आत्मा सर्वान्तर है, इससे भिन्न आर्त (नाशवान्) है। इसके पश्चात् चाक्रायण उपस्त चुप हो गया ॥ २ ॥

॥इति चतुर्थं ब्राह्मणम्॥

॥चतुर्थ ब्राह्मण समाप्त॥

॥ श्री हरि ॥

॥बृहदारण्यकोपनिषद॥

अथ तृतीयोध्यायः - पञ्चमं ब्राह्मणम्

पांचवा ब्राह्मण

कहोल ब्राह्मण

अथ हैनं कहोलः कौषीतकेयः पप्रच्छ पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्वेत्येष त आत्मा सर्वान्तरः । कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरो । योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येत्येतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति । या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा या वित्तैषणा सा लोकैषणोभे ह्येते एषणे एव भवतस्तस्माद्ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत् । बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिरमौनं च मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मणः । स ब्राह्मणः केन स्याद् येन स्यात् तेनेदृश एवातोऽन्यदार्तम् । य एवं वेद एवातोऽन्यदार्तम् । ततो ह कहोलः कौषीतकेय उपरराम ॥ १॥

कहोल ने पूछा:
याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया:

फिर याज्ञवल्क्य से कौषीतकेय (कुषीतक का पुत्र) कहोल ने पूछा; हे याज्ञवल्क्य ! जो भी साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म और सर्वान्तर आत्मा है, उसकी तुम मेरे प्रति व्याख्या करो।

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: यह तुम्हारा आत्मा सर्वान्तर है ।
कहोल ने पूछा: हे याज्ञवल्क्य ! वह सर्वान्तर कौन-सा है ?

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: 'जो भूख, प्यास, शोक, मोह, बुढ़ापा और मृत्यु की पहुँच से परे है। इसी आत्मा को ही जानकर ब्राह्मण, पुत्रों की कामना से, धन की कामना से, और नवीन लोकों की कामना से ऊपर उठ कर   भिक्षाचर्या से विचरते हैं । क्योंकि जो कामना पुत्रों के लिए है, वही धन के लिए है और वही कामना लोकों के लिए है। ये दोनों ही साध्य और साधन इच्छाएँ- कामना ही हैं। अतः ब्राह्मण को चाहिए की पाण्डित्य (आत्मज्ञान) को पूर्णतया प्राप्त कर आत्मज्ञान रूप बल से स्थित रहनेकी इच्छा करे। फिर बल और पाण्डित्य को पूर्णतया प्राप्त कर वह मुनि होता है। तथा अमौन (मुनि बनने से पहले प्राप्त विद्या) और मौन (मुनित्व) का पूर्णतया सम्पादन करके ब्राह्मण (कृतकृत्य) होता है । वह किस प्रकार ब्राह्मण होता है ? जिस प्रकार भी हो, ऐसा ही ब्राह्मण होता है; इससे भिन्न और सब आर्त (नाशवान्) है ।' तब कौषीतकेय कहोल चुप हो गया ॥ १ ॥

॥ इति पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥

॥ पांचवा ब्राह्मण समाप्त॥

॥ श्री हरि ॥

॥बृहदारण्यकोपनिषद॥

अथ तृतीयोध्यायः - षष्ठं ब्राह्मणम्

छठा ब्राह्मण

गार्गी ब्राह्मण

अथ हैनं गार्गी वाचक्नवी पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच
यदिदꣳ सर्वमप्स्वोतं च प्रोतं च कस्मिन्नु खल्वाप
ओताश्च प्रोताश्चेति । वायौ गार्गीति । कस्मिन्नु खलु वायुरोतश्च
प्रोतश्चेत्यन्तरिक्षलोकेषु गार्गीति । कस्मिन्नु खल्वन्तरिक्षलोका
ओताश्च प्रोताश्चेति । गन्धर्वलोकेषु गार्गीति । कस्मिन्नु गन्धर्वलोका
ओताश्च प्रोताश्चेत्यादित्यलोकेषु गार्गीति । कस्मिन् नु
खल्वादित्यलोका ओताश्च प्रोताश्चेति । चन्द्रलोकेषु गार्गीति । कस्मिन्नु
खलु चन्द्रलोका ओताश्च प्रोताश्चेति । नक्षत्रलोकेषु गार्गीति । कस्मिन्नु
खलु नक्षत्रलोका ओताश्च प्रोताश्चेति । देवलोकेषु गार्गीति ।
कस्मिन्नु खलु देवलोका ओताश्च प्रोताश्चेति इन्द्रलोकेषु गार्गीति ।
कस्मिन्नु खल्विन्द्रलोका ओताश्च प्रोताश्चेति । प्रजापतिलोकेषु
गार्गीति । कस्मिन्नु खलु प्रजापतिलोका ओताश्च प्रोताश्चेति ।
ब्रह्मलोकेषु गार्गीति । कस्मिन्नु खलु ब्रह्मलोका ओताश्च प्रोताश्चेति ।
स होवाच गार्गि मातिप्राक्षीर्मा ते मूर्धा व्यपप्तदनतिप्रश्न्यां
वै देवतामतिपृच्छसि । गार्गि माऽतिप्राक्षीरिति । ततो ह गार्गी
वाचक्नव्युपरराम ॥ १॥

फिर याज्ञवल्क्य से वचक्नु की पुत्री गार्गी ने पूछा: हे याज्ञवल्क्य ! यह जो कुछ है, सब जल में ओतप्रोत है, किंतु वह जल किसमें ओतप्रोत है ?

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: हे गार्गि ! जल वायु से ओत प्रोत है।

गार्गी ने पूछा: वायु किसमें ओतप्रोत है?

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: हे गार्गि! वायु अन्तरिक्ष लोकों में ओतप्रोत है।

गार्गी ने पूछा: अन्तरिक्षलोक किसमें ओतप्रोत है?

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: हे गार्गि ! अन्तरिक्षलोक, गन्धर्वलोकों में ओतप्रोत है।

गार्गी ने पूछा: गन्धर्वलोक किसमें ओतप्रोत हैं ?
याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: हे गार्गि ! आदित्यलोकों में ओतप्रोत है।

गार्गी ने पूछा: आदित्यलोक किसमें ओतप्रोत हैं ?
याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: हे गार्गि ! आदित्यलोक, चन्द्रलोकों में ओतप्रोत है।

गार्गी ने पूछा: चन्द्रलोक किसमें ओतप्रोत हैं ?
याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: हे गार्गि ! चन्द्रलोक, नक्षत्रलोकों में ओतप्रोत है।

गार्गी ने पूछा: नक्षत्रलोक किसमें ओतप्रोत हैं ?
याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: हे गार्गि ! नक्षत्रलोक, देवलोकों में ओतप्रोत है।

गार्गी ने पूछा: देवलोक किसमें ओतप्रोत हैं ?
याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: हे गार्गि ! देवलोक, इन्द्रलोकों में ओतप्रोत है।

गार्गी ने पूछा: इन्द्रलोक किसमें ओतप्रोत हैं ?
याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: हे गार्गि ! इन्द्रलोक, प्रजापतिलोकों में ओतप्रोत है।

गार्गी ने पूछा: प्रजापतिलोक किसमें ओतप्रोत हैं ?
याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: हे गार्गि! प्रजापतिलोक, ब्रह्मलोकों में ओतप्रोत है।

गार्गी ने पूछा: ब्रह्मलोक किसमें ओतप्रोत हैं ?

याज्ञवल्क्य ने चेतावनी देते हुए उत्तर दिया: हे गार्गि! अतिप्रश्न मत कर! कहीं तेरा मस्तक न गिर जाय। तुझे जिसके विषय में अतिप्रश्न

नहीं करना चाहिये, तू उसी उस देवता के विषयमें अतिप्रश्न कर रही है। हे गार्गि ! तू अतिप्रश्न न कर। तब वचक्नु की पुत्री गार्गी चुप हो गई। ॥ १ ॥

॥ इति षष्ठं ब्राह्मणम् ॥

॥ छठा ब्राह्मण समाप्त॥

॥ श्री हरि ॥

॥बृहदारण्यकोपनिषद॥

अथ तृतीयोध्यायः - सप्तमं ब्राह्मणम्

सातवाँ ब्राह्मण

अंतर्यामी ब्राह्मण

अथ हैनमूद्दालक आरुणिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति
होवाच मद्रेष्ववसाम पतञ्चलस्य काप्यस्य गृहेषु
यज्ञमधीयानास्तस्याऽऽसीद्भार्या गन्धर्वगृहीता । तमपृच्छाम
कोऽसीति । सोऽब्रवीत् कबन्ध आथर्वण इति । सोऽब्रवीत्पतञ्चलं
काप्यं याज्ञिकाꣳश्च वेत्थ नु त्वं काप्य तत्सूत्रं येनायं
च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि सन्दब्धानि
भवन्तीति । सोऽब्रवीत्पतञ्चलः काप्यो नाहं तद् भगवन् वेदेति ।
सोऽब्रवीत् पतञ्चलं काप्यं याज्ञिकाꣳश्चः वेत्थ नु त्वं काप्य
तमन्तर्यामिणं य इमं च लोकं परं च लोकꣳ सर्वाणि च भूतानि
योऽन्तरो यमयतीति । सोऽब्रवीत् पतञ्चलः काप्यो नाहं तं भगवन्
वेदेति । सोऽब्रवीत् पतञ्चलं काप्यं याज्ञिकाꣳश्च यो वै तत्
काप्य सूत्रं विद्यात्तं चान्तर्यामिणमिति स ब्रह्मवित् स लोकवित् स
देववित् स वेदवित् स भूतवित् स आत्मवित् स सर्वविदिति
तेभ्योऽब्रवीत् तदहं वेद । तच्चेत्त्वं याज्ञवल्क्य सूत्रमविद्वाꣳस्तं
चान्तर्यामिणं ब्रह्मगवीरुदजसे मूर्धा ते विपतिष्यतीति । वेद वा अहं
गौतम तत्सूत्रं तं चान्तर्यामिणमिति । यो वा इदं कश्चिद्ब्रूयात् वेद
वेदेति । यथा वेत्थ तथा ब्रूहीति ॥ १॥

फिर याज्ञवल्क्य से आरुणि उद्दालकने पूछा; हे याज्ञवल्क्य ! हम मद्रदेश में यज्ञ शास्त्र का अध्ययन करते हुए कपिगोत्रोत्पन्न पतञ्चलके घर रहते थे। उसकी भार्या गन्धर्व द्वारावशीभूत थी । हमने उस गन्धर्व से पूछा, 'तू कौन है ?' उसने कहा, 'मैं आथर्वण कबन्ध हूँ।' उसने कपि गोत्रीय पतञ्चल और उसके याज्ञिकों से पूछा: 'हे काप्य ! क्या तुम उस सूत्र को जानते हो जिसके द्वारा यह लोक, परलोक और सारे भूत प्रथित हैं ?"

पतञ्चल काप्य ने कहा: 'भगवन् ! मैं उसे नहीं जानता ।'
गन्धर्व ने कहा: 'हे काप्य ! क्या तुम उस अन्तर्यामीको जानते हो जो इस लोक, परलोक और समस्त भूतोंको भीतरसे नियमित करता है?
पतञ्चल काप्य ने कहा: भगवन् ! मैं उसे नहीं जानता।
गन्धर्व ने कहा: ' काप्य ! जो कोई उस सूत्र और उस अन्तर्यामीको जानता है, वह ब्रह्मवेत्ता है, वह लोकवेत्ता है, वह देववेत्ता है, वह वेदवेत्ता है, वह भूतवेत्ता है, वह आत्मवेत्ता है और वह सर्ववेत्ता है।

तथा इसके पश्चात् गन्धर्वने उन (काप्य आदि) से सूत्र और अन्तर्यामी को बताया। उसे मैं जानता हूँ। हे याज्ञवल्क्य ! यदि उस सूत्र और अन्तर्यामीको न जाननेवाले होकर ब्रह्मवेत्ताकी खभूत गौओंको ले जाओगे तो तुम्हारा मस्तक गिर जायगा।

याज्ञवल्क्य के कहा: हे गौतम ! मैं उस सूत्र और अन्तर्यामी को जानता हूँ।

उद्दालक ने कहा: ऐसा तो जो कोई भी कह सकता है कि मैं जानता हूँ, मैं जानता हूँ, किंतु इस तरह व्यर्थ ढोल पीटनेसे क्या लाभ? यदि वास्तवमें तुम्हें उसका ज्ञान है तो जिस प्रकार तुम जानते हो वह कहो? ॥१॥

स होवाच वायुर्वै गौतम तत्सूत्रं वायुना वै गौतम सूत्रेणायं
च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि सन्दृब्धानि भवन्ति ।
तस्माद्वै गौतम पुरुषं प्रेतमाहुर्व्यस्रꣳसिषतास्याङ्गानीति
वायुना हि गौतम सूत्रेण संदृब्धानि भवन्तीत्येवमेवैतद्
याज्ञवल्क्यान्तर्यामिणं ब्रूहीति ॥ २॥

याज्ञवल्क्य ने कहा: हे गौतम! वायु ही वह सूत्र है। हे गौतम ! वायु रूप सूत्रके द्वारा ही यह लोक, परलोक और समस्त प्राणी समुदाय गुंथे हुए हैं। हे गौतम ! इसीसे मरे हुए पुरुषको ऐसा कहते हैं कि इसके अङ्ग शिथिल हो गये हैं। क्योंकि हे गौतम ! वे वायुरूप सूत्र से ही जुड़े रहते हैं।

आरुणि ने कहा: हे याज्ञवल्क्य ! ठीक है, यह तो ऐसा ही है, अब तुम अन्तर्यामी का वर्णन करो। ॥२॥

यः पृथिव्यां तिष्ठन्पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद
यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त
आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ ३॥

याज्ञवल्क्य ने अंतर्यामी का वर्णन करना शुरू दिया:

जो पृथिवी में रहनेवाला पृथिवी के भीतर है, जिसे पृथिवी नहीं जानती, जिसका पृथिवी शरीर है और जो भीतर रहकर पृथिवी को नियम में रखता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। ॥ ३ ॥

योऽप्सु तिष्ठन्नद्भ्योऽन्तरो यमापो न विदुः यस्यापः शरीरं
योऽपोऽन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ ४॥

जो जल में रहनेवाला जल के भीतर है, जिसे जल नहीं जानता, जल जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर जल को नियम में रखता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। ॥ ४ ॥

योऽग्नौ तिष्ठन्नग्नेरन्तरो यमग्निर्न वेद यस्याग्निः शरीरं
योऽग्निमन्तरो यमयति एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ ५॥

जो अग्नि में रहनेवाला अग्नि के भीतर है, जिसे अग्नि नहीं जानता, अग्नि जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर अग्नि को नियम में रखता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है।॥ ५॥

योऽन्तरिक्षे तिष्ठन्नन्तरिक्षादन्तरो यमन्तरिक्षं न वेद
यस्यान्तरिक्षꣳ शरीरं योऽन्तरिक्षमन्तरो यमयत्येष त
आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ ६॥

जो अन्तरिक्ष में रहनेवाला अन्तरिक्ष के भीतर है, जिसे अन्तरिक्ष नहीं जानता, अन्तरिक्ष जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर अन्तरिक्ष को नियम में रखता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। ॥ ६॥

यो वायौ तिष्ठन्वायोरन्तरो यं वायुर्न वेद यस्य वायुः शरीरं यो
वायुमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ ७॥

जो वायु में रहनेवाला वायु के भीतर है, जिसे वायु नहीं जानता, वायु जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर वायु को नियम में रखता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। ॥ ७॥

यो दिवि तिष्ठन्दिवोऽन्तरो यं द्यौर्न वेद यस्य द्यौः शरीरं यो
दिवमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ ८॥

जो द्युलोक में रहनेवाला द्युलोक के भीतर है, जिसे द्युलोक नहीं जानता, द्युलोक जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर द्युलोक को नियम में रखता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। ॥ ८॥

य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्याऽऽदित्यः
शरीरं य आदित्यमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ ९॥

जो आदित्य में रहनेवाला आदित्य के भीतर है, जिसे आदित्य नहीं जानता, आदित्य जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर आदित्य को नियम में रखता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। ॥ ९॥

यो दिक्षु तिष्ठन्दिग्भ्योऽन्तरो यं दिशो न विदुर्यस्य दिशः शरीरं यो दिशोऽन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ १०॥

जो दिशाओं में रहनेवाला दिशाओं के भीतर है, जिसे दिशाएँ नहीं जानती, दिशाएँ जिसका शरीर हैं और जो भीतर रहकर दिशाओं को नियम में रखता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। ॥ १० ॥

यश्चन्द्रतारके तिष्ठꣳचन्द्रतारकादन्तरो यं चन्द्रतारकं न वेद यस्य चन्द्रतारकꣳ शरीरं यश्चन्द्रतारकमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ ११॥

जो चन्द्रमा और ताराओं में रहनेवाला चन्द्रमा और ताराओं के भीतर है, जिसे चन्द्रमा और ताराएँ नहीं जानती, चन्द्रमा और ताराएँ जिसका शरीर हैं और जो भीतर रहकर चन्द्रमा और ताराओं को नियम में रखता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। ॥ ११ ॥

य आकाशे तिष्ठन्नाकाशादन्तरो यमाकाशो न वेद यस्याऽऽकाशः शरीरं य आकाशमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ १२॥

जो आकाश में रहनेवाला आकाश के भीतर है, जिसे आकाश नहीं जानता, आकाश जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर आकाश को नियम में रखता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। ॥ १२॥

यस्तमसि तिष्ठꣳस्तमसोऽन्तरो यं तमो न वेद यस्य तमः शरीरं यस्तमोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ १३॥

जो तम में रहनेवाला तम के भीतर है, जिसे तम नहीं जानता, तम जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर तम को नियम में रखता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। ॥ १३ ॥

यस्तेजसि तिष्ठꣳस्तेजसोऽन्तरो यं तेजो न वेद यस्य तेजः शरीरं यस्तेजोऽन्तरो यमयत्य्स एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृत इत्यधिदैवतं अथाधिभूतम् ॥ १४॥

जो तेज में रहनेवाला तेज के भीतर है, जिसे तेज नहीं जानता, तेज जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर तेज को नियम में रखता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है, यह उस अधिदैवत-दर्शन (देवताओं का) हुआ, आगे अधिभूत-दर्शन (प्राणियों का) बताते हैं। ॥ १४ ॥

यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यꣳ सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भुतानि शरीरं यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृत इत्यधिभूतमथाध्यात्मम् ॥ १५॥

जो समस्त प्राणियों में स्थित रहनेवाला समस्त प्राणियों के भीतर है, जिसे समस्त प्राणी नहीं जानते, समस्त प्राणी जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर समस्त प्राणियों को नियम में रखता है, वह तुम्हारा

आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। यह अधिभूत दर्शन (प्राणधारियों का) है, अब आध्यात्म दर्शन (शारीरिक) कहा जाता है। ॥ १५॥

यः प्राणे तिष्ठन्प्राणादन्तरो यं प्राणो न वेद यस्य प्राणः शरीरं
यः प्राणमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ १६॥

जो प्राण में रहनेवाला प्राण के भीतर है, जिसे प्राण नहीं जानता, प्राण जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर प्राण को नियम में रखता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। ॥१६॥

यो वाचि तिष्ठन्वाचोऽन्तरो यं वाङ्न वेद यस्य वाक् शरीरं यो
वाचमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ १७॥

जो वाणी में रहनेवाला वाणी के भीतर है, जिसे वाणी नहीं जानती, वाणी जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर वाणी को नियम में रखता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। ॥ १७ ॥

यश्चक्षुषि तिष्ठꣳश्चक्षुषोऽन्तरो यं चक्षुर्न
वेद यस्य चक्षुः शरीरं यश्चक्षुरन्तरो यमयत्येष त
आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ १८॥

जो नेत्रमें रहनेवाला नेत्र के भीतर है, जिसे नेत्र नहीं जानता, नेत्र जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर नेत्र को नियम में रखता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। ॥ १८ ॥

यः श्रोत्रे तिष्ठञ्छ्रोत्रादन्तरो यꣳ श्रोत्रं न वेद
यस्य श्रोत्रꣳ शरीरं यः श्रोत्रमन्तरो यमयत्स एष त
आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ १९॥

जो श्रोत्र में रहनेवाला श्रोत्र के भीतर है, जिसे श्रोत्र नहीं जानता, श्रोत्र जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर श्रोत्र को नियम में रखता है वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। ॥ १९ ॥

यो मनसि तिष्ठन्मनसोऽन्तरो यं मनो न वेद यस्य मनः शरीरं
यो मनोऽन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ २०॥

जो मन में रहनेवाला मन के भीतर है, जिसे मन नहीं जानता, मन जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर मन को नियम में रखता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। ॥२०॥

यस्त्वचि तिष्ठꣳस्त्वचोऽन्तरो यं त्वङ्न वेद यस्य त्वक् शरीरं
यस्त्वचमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ २१॥

जो त्वचा में रहनेवाला त्वचा के भीतर है, जिसे त्वचा नहीं जानती, त्वचा जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर त्वचा को नियम में रखता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। ॥ २१ ॥

विज्ञाने तिष्ठन्विज्ञानादन्तरो यꣳ विज्ञानं न वेद
यस्य विज्ञानꣳ शरीरं यो विज्ञानमन्तरो यमयत्येष त
आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ २२॥

जो विज्ञान में रहनेवाला विज्ञान के भीतर है, जिसे विज्ञान नहीं जानता, विज्ञान जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर विज्ञान को नियम में रखता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है।॥ २२ ॥

यो रेतसि तिष्ठन् रेतसोऽन्तरो यꣳ रेतो न वेद यस्य रेतः
शरीरं यो रेतोऽन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतोऽदृष्टो
द्रष्टाऽश्रुतः श्रोताऽमतो मन्ताऽविज्ञतो विज्ञाता । नान्योऽतोऽस्ति
द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता नान्योऽतोऽस्ति मन्ता नान्योऽतोऽस्ति
विज्ञातैष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतोऽतोऽन्यदार्तं ततो होद्दालक
आरुणिरुपरराम ॥ २३॥

जो वीर्य में रहनेवाला वीर्य के भीतर है, जिसे वीर्य नहीं जानता, वीर्य जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर वीर्य को नियम में रखता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। वह दिखायी न देनेवाला किंतु देखनेवाला है, सुनायी न देनेवाला किंतु सुननेवाला है, मनन का विषय न होने वाला किंतु मनन करने वाला है और विशेषतया ज्ञात न होने वाला किंतु विशेष रूपसे जानने वाला है । यह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। इससे भिन्न सब नाशवान् है। इसके पश्चात् अरुण का पुत्र उद्दालक चुप हो गया ॥ २३ ॥

॥ इति सप्तमं ब्राह्मणम् ॥

॥ सातवाँ ब्राह्मण समाप्त॥

॥ श्री हरि ॥

॥बृहदारण्यकोपनिषद॥

अथ तृतीयोध्यायः - अष्टमं ब्राह्मणम्

आठवां ब्राह्मण

गार्गी ब्राह्मण

अंतर्यामी का निर्णय सुन वचक्नु की पुत्री गार्गी के ह्रदय में अंतर्यामी के शुद्ध स्वरुप को जानने की जिज्ञासा उत्पन्न हुई और गार्गी में पुन: प्रश्न पूछना आरम्भ किया -

अथ ह वाचक्नव्युवाच ब्राह्मणा भगवन्तो हन्ताहमिमं द्वौ
प्रश्नौ प्रक्ष्यामि तौ चेन्मे वक्ष्यति न वै जातु युष्माकमिमं
कश्चिद्ब्रह्मोद्यं जेतेति । पृच्छ गार्गीति ॥ १॥

गार्गी ने कहा : पूजनीय ब्राह्मणगण ! अब मैं इनसे दो प्रश्न पूछूगी। यदि ये मेरे उन प्रश्नोंका उत्तर दे देंगे तो आपमेंसे कोई भी इन्हें ब्रह्मसम्बन्धी वादमें नहीं जीत सकेगा।

याज्ञवल्क्य ने कहा: अच्छा गार्गि ! पूछो। ॥ १ ॥

सा होवाचाहं वै त्वा याज्ञवल्क्य यथा काश्यो वा वैदेहो वोग्रपुत्र उज्ज्यं धनुरधिज्यं कृत्वा द्वौ बाणवन्तौ सपत्नातिव्याधिनौ हस्ते कृत्वोपोत्तिष्ठेदेवमेवाहं त्वा द्वाभ्यां प्रश्नाभ्यामुपोदस्थाम् । तौ मे ब्रूहीति । पृच्छ गार्गीति ॥ २॥

गार्गी ने पूछा: हे याज्ञवल्क्य ! जिस प्रकार काशी या विदेह का रहने वाला कोई वीर-वंशज प्रत्यंचा हीन धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाकर शत्रुओं को अत्यन्त पीडा देने वाले दो बाण हाथ में लेकर खड़ा होता है, उसी प्रकार मैं दो प्रश्न लेकर तुम्हारे सामने उपस्थित होती हूँ, आप मुझे उनका उत्तर दो।

याज्ञवल्क्य ने कहा: अच्छा गार्गि ! पूछो। ॥२॥

सा होवाच यदूर्ध्वं याज्ञवल्क्य दिवो यदवाक्पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षते कस्मिꣳस्तदोतं च प्रोतं चेति ॥ ३॥

गार्गी ने पूछा: हे याज्ञवल्क्य! जो द्युलोक से ऊपर है, जो पृथिवी से नीचे है और जो द्युलोक और पृथिवी के मध्य में है और स्वयं भी जो यह द्युलोक और पृथिवी हैं तथा जिन्हें भूत, वर्तमान और भविष्य- इस प्रकार कहते हैं, वे किसमें ओतप्रोत हैं ? ॥ ३ ॥

स होवाच यदूर्ध्वं गार्गि दिवो यदवाक्पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षत आकाशे तदोतं च प्रोतं चेति ॥ ४॥

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: हे गार्गि! जो द्युलोक से ऊपर, पृथिवी से नीचे और जो द्युलोक एवं पृथिवी के मध्यमें है और स्वयं भी जो ये द्युलोक और पृथिवी हैं तथा जिन्हें भूत, वर्तमान एवं भविष्य-इस प्रकार कहते हैं, वह सभी आकाश में ओतप्रोत हैं। ॥ ४ ॥

सा होवाच नमस्तेऽस्तु याज्ञवल्क्य यो म एतं व्यवोचोऽपरस्मै
धारयस्वेति । पृच्छ गार्गीति ॥ ५॥

गार्गी ने कहा: 'हे याज्ञवल्क्य ! आपको नमस्कार है, जिन्होंने मुझे इस प्रश्नका उत्तर दे दिया; अब आप दूसरे प्रश्नके लिये तैयार हो जाइये।

याज्ञवल्क्य ने कहा: अच्छा गार्गि ! पूछो। ॥ ५॥

सा होवाच यदूर्ध्वं याज्ञवल्क्य दिवो यदवाक् पृथिव्याः यदन्तरा
द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षते
आचक्षते कस्मिꣳस्तदोतं च प्रोतं चेति ॥ ६॥

गार्गी ने पूछा: 'हे याज्ञवल्क्य ! जो द्युलोक से ऊपर है, जो पृथिवी से नीचे है और जो द्युलोक और पृथिवी के मध्य में है और स्वयं भी जो ये द्युलोकऔर पृथिवी हैं तथा जिन्हें भूत, वर्तमान और भविष्य इस प्रकार कहते हैं, वे किसमें ओत-प्रोत हैं ? ॥६॥

स होवाच यदूर्ध्वं गार्गि दिवो यदवाक्पृथिव्या यदन्तरा
द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षत
आकाश एव तदोतं च प्रोतं चेति । कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च

प्रोतश्चेति ॥ ७॥

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: हे गार्गि! जो द्युलोक से ऊपर, पृथिवी से नीचे और जो द्युलोक एवं पृथिवी के मध्यमें है और स्वयं भी जो ये द्युलोक और पृथिवी हैं तथा जिन्हें भूत, वर्तमान एवं भविष्य-इस प्रकार कहते हैं, वह सभी आकाश में ओतप्रोत हैं।

गार्गी ने पूछा: किन्तु वह आकाश किस में ओत-प्रोत है?॥७॥

स होवाचैतद्वै तदक्षरऽ गार्गि ब्राह्मणा
अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमो-
ऽवाय्वनाकाशमसङ्गं अचक्षुष्कमश्रोत्रमवाग्
अमनोऽतेजस्कमप्राणममुखममात्रं अनन्तरमबाह्यं न तदश्नाति
किं चन न तदश्नाति कश्चन ॥ ८॥

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: 'हे गार्गि ! उस इस तत्त्व को तो ब्रह्म के जानने वाले अक्षर (अविनाशी) कहते हैं, वह न मोटा है, न पतला है, न छोटा है, न बड़ा है, न अग्नि की तरह लाल है, न द्रव है, न छाया है, न तम (अन्धकार) है, न वायु है, न आकाश है, न सङ्ग है[17], न रस है, न गन्ध है, न नेत्र है, न कान है, न वाणी है, न मन है, न तेज है, न प्राण है, न मुख है, न माप है, उसमें न अन्दर है, न बाहर है। न वह किसी को भोगता है और न ही उसे कोई भोग सकता है। ॥ ८ ॥

[17] किसी से जुड़ा नहीं है

एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ
तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ
विधृते तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि
निमेषा मुहूर्ता अहोरात्राण्यर्धमासा मासा ऋतवः संवत्सरा इति
विधृतास्तिष्ठन्त्येतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि प्राच्योऽन्या
नद्यः स्यन्दन्ते श्वेतेभ्यः पर्वतेभ्यः प्रतीच्योऽन्या यां यां
च दिशमन्वेतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ददतो मनुष्याः
प्रशꣳसन्ति यजमानं देवा दर्वीं पितरोऽन्वायत्ताः ॥ ९॥

हे गार्गि! इस अक्षर के ही प्रशासन में सूर्य और चन्द्रमा विशेषरूप से धारण किये हुए स्थित रहते हैं । हे गार्गि! इस अक्षरके ही प्रशासन में द्युलोक और पृथिवी विशेषरूप से धारण किये हुए स्थित रहते हैं। हे गार्गि! इस अक्षरके ही प्रशासन में निमेष, मुहूर्त, दिन-रात, अर्ध-मास (शुक्ल और कृष्ण पक्ष), मास, ऋतु और संवत्सर विशेषरूप से धारण किये हुए स्थित रहते हैं । हे गार्गि! इस अक्षर के ही प्रशासनमें पूर्ववाहिनी एवं अन्य नदियाँ श्वेत पर्वतों से बहती हैं तथा अन्य पश्चिमवाहिनी नदियाँ जिस-जिस दिशा को बहने लगती हैं, उसी का अनुसरण करती रहती हैं। हे गार्गि ! इस अक्षर के ही प्रशासन में मनुष्य दाता की प्रशंसा करते हैं तथा देवगण यजमान के अनुगत होते हैं और पितृगण दर्वीहोम[18] के अनुगत होते हैं ॥ ९ ॥

यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्मिꣳल्लोके जुहोति यजते
तपस्तप्यते बहूनि वर्षसहस्राण्यन्तवदेवास्य तद्भवति लोको भवति
यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणोऽथ य

---

[18] जो न किसी की प्रकृति का ही, न विकृति हो उसे दर्वी होम कहा जाता है।

एतदक्षरं गार्गि विदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स ब्राह्मणः ॥ १०॥

हे गार्गि ! जो कोई इस लोक में इस अक्षर को न जानकर हवन करता, यज्ञ करता और अनेकों सहस्र वर्ष पर्यन्त तप करता है, उसका वह सब कर्म अन्तवान् ही होता है। जो कोई भी इस अक्षर को बिना जाने इस लोक से मरकर जाता है, वह कृपण (दीन-दया का पात्र) है और हे गार्गि ! जो इस अक्षर को जानकर इस लोक से मरकर जाता है, वह ब्राह्मण है। ॥ १० ॥

तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं द्रष्टृश्रुतꣳ श्रोत्रमतं
मन्त्रविज्ञातं विज्ञातृ नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति
श्रोतृ नान्यदतोऽस्ति मन्तृ नान्यदतोऽस्ति विज्ञात्रेतस्मिन्नु
खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्चेति ॥ ११॥

हे गार्गि ! यह अक्षर स्वयं दृष्टि का विषय नहीं, किंतु द्रष्टा है, श्रवण का विषय नहीं, किंतु श्रोता है, मनन का विषय नहीं, किंतु मन्ता है, स्वयं अविज्ञात रहकर दूसरों का विज्ञाता है । इससे भिन्न कोई द्रष्टा नहीं है, इससे भिन्न कोई श्रोता नहीं है, इससे भिन्न कोई मन्ता नहीं है, इससे भिन्न कोई विज्ञाता नहीं है। हे गार्गि ! निश्चय इस अक्षर में ही आकाश ओतप्रोत है। ॥ ११ ॥

सा होवाच ब्राह्मणा भगवन्तस्तदेव बहु मन्येध्वं यदस्मान्नमस्कारेण
मुच्येध्वं न वै जातु युष्माकमिमं कश्चिद्ब्रह्मोद्यं जेतेति ततो ह
वाचक्नव्युपरराम ॥ १२॥

उस गार्गी ने कहा, 'पूज्य ब्राह्मणगण ! आप लोग इसी को बहुत मानें कि इन याज्ञवल्क्यजी से आपको नमस्कार द्वारा ही छुटकारा मिल जाए। आपमें से कोई भी कभी इन्हें ब्रह्मविषयक वाद-विवाद में जीतनेवाला नहीं है। तदनन्तर वचक्नु की पुत्री गार्गी चुप हो गयी। ।। १२ ॥

॥ इत्यष्टमं ब्राह्मणम् ॥

॥ आठवां ब्राह्मण समाप्त ॥

॥ श्री हरि ॥

॥बृहदारण्यकोपनिषद॥

अथ तृतीयोध्यायः - नवमं ब्राह्मणम्

नौवां ब्राह्मण

शाकल्य ब्राह्मण

अथ हैनं विदग्धः शाकल्यः पप्रच्छ कति देवा याज्ञवल्क्येति ।
स हैतयैव निविदा प्रतिपेदे यावन्तो वैश्वदेवस्य निविद्युच्यन्ते
त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रेत्योमिति होवाच कत्येव
देवा याज्ञवल्क्येति । त्रयस्त्रिꣳशदित्योमिति होवाच । कत्येव देवा
याज्ञवल्क्येति । षडित्योमिति होवाच । कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति ।
त्रय इत्योमिति होवाच । कत्येव देवा याज्ञवल्क्येत्य्द्वावित्योमिति
होवाच ।
कत्येव देवा याज्ञवल्क्येत्यध्यर्ध इत्योमिति होवाच । कत्येव देवा
याज्ञवल्क्येत्येक इत्योमिति होवाच । कतमे ते त्रयश्च त्री च शता
त्रयश्च त्री च सहस्रेति ॥ १ ॥

इसके पश्चात् याज्ञवल्क्य से विदग्ध शाकल्य ने पूछा: 'हे याज्ञवल्क्य ! कितने देवगण हैं ?' याज्ञवल्क्य ने इस आगे कही जानेवाली निविद् से ही उनकी संख्या का प्रतिपादन किया। जितने वैश्वदेव की निविद्

अर्थात् देवताओं की संख्या बतानेवाले मन्त्रपदों में बतलाये गये हैं । वे तीन और तीन सौ तथा तीन और तीन सहस्र (तीन हजार तीन सौ छः) हैं । तब शाकल्य ने ठीक है। ऐसा कहा ।

शाकल्य ने पूछा: हे याज्ञवल्क्य ! कितने देव हैं।
याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: तैंतीस।

शाकल्य ने कहा: ठीक है और पूछा, हे याज्ञवल्क्य ! कितने देव हैं ?
याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: छ:।

शाकल्य ने कहा: ठीक है और फिर पूछा, हे याज्ञवल्क्य ! कितने देव हैं ?
याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: तीन।

शाकल्य ने कहा: ठीक है और फिर पूछा, हे याज्ञवल्क्य ! कितने देव हैं ?
याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: दो।

शाकल्य ने कहा: ठीक है और फिर पूछा, हे याज्ञवल्क्य ! कितने देव हैं ?
याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: डेढ़।

शाकल्य ने कहा: ठीक है और फिर पूछा, हे याज्ञवल्क्य ! कितने देव हैं ?

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: एक।

शाकल्य ने कहा: ठीक है और फिर पूछा, हे याज्ञवल्क्य ! वे तीन और तीन सौ तथा तीन और तीन सहस्त्र देव कौन-से हैं? ॥ १ ॥

स होवाच महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रिꣳशत्त्वेव देवा इति कतमे ते त्रयस्त्रिꣳशदित्यष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशाऽऽदित्यास्ते एकत्रिꣳशदिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिꣳशाविति ॥ २॥

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: यह तो इनकी महिमाएँ ही हैं। देवगण तो तैंतीस ही हैं।

शाकल्य ने पूछा: वे तैंतीस देव कौन-से हैं ?

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य-ये इकतीस देवगण हैं तथा इन्द्र और प्रजापति के सहित तैंतीस हैं। ॥२॥

कतमे वसव इत्यग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चाऽऽदित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसव एतेषु हीदं वसु सर्वꣳ हितमिति तस्माद्वसव इति ॥ ३॥

शाकल्य ने पूछा: 'वसु कौन हैं ?

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्युलोक, चन्द्रमा और नक्षत्र-ये वसु हैं; इन्हीं में यह समस्त जगत् निहित है, इसी से यह वसु हैं। ॥ ३ ॥

कतमे रुद्रा इति । दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशस्ते
यदाऽस्माच्छरीरान्मर्त्यादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति तद्यद्रोदयन्ति
तस्माद्रुद्रा इति ॥ ४॥

शाकल्य ने पूछा: 'रुद्र कौन हैं।

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: 'पुरुष में ये दस प्राण (इन्द्रियाँ) और ग्यारहवाँ आत्मा (मन) । ये जिस समय इस मरणशील शरीर से बाहर निकलता हैं, उस समय रुलाते हैं; अत: क्योंकि यह शरीर से बाहर निकलते समय अपने सम्बन्धियों को रुलाते हैं; इसलिये रोदन के कारक होने से 'रुद्र' कहलाते हैं। ॥४॥

कतम आदित्या इति । द्वादश वै मासाः संवत्सरस्यैत आदित्या एते
हीद९ सर्वमाददाना यन्ति ते यदिद९ सर्वमाददाना यन्ति
तस्मादादित्या इति ॥ ५॥

शाकल्य ने पूछा: आदित्य कौन हैं ?

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: संवत्सर के अवयवभूत ये बारह मास ही आदित्य हैं; क्योंकि यह सबको (मनुष्य की आयु और उन के कर्मों के फलों को ग्रहण करते हुए चलते हैं, इसलिये आदित्य हैं। ।। ५ ।।

कतम इन्द्रः कतमः प्रजापतिरिति । स्तनयित्नुरेवेन्द्रो यज्ञः प्रजापतिरिति । कतमः स्तनयित्नुरित्यशनिरिति । कतमो यज्ञ इति । पशव इति ॥ ६॥

शाकल्य ने पूछा: इन्द्र कौन है और प्रजापति कौन है ?
याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: विद्युत् ही इन्द्र है और यज्ञ प्रजापति है।

शाकल्य ने पूछा: विद्युत् कौन है?
याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: अग्नि की विद्युत् है।

शाकल्य ने पूछा: यज्ञ कौन है?
याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: याज्ञिक पशु ही यज्ञ हैं। ॥ ६॥

कतमे षडित्यग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चाऽऽदित्यश्च द्यौश्चैते षड् एते हीदꣳ सर्वं षडिति ॥ ७॥

शाकल्य ने पूछा: छः देवगण कौन हैं ?

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य और द्युलोक यह छः देवगण हैं । ये वसु आदि तैंतीस देवताओं के रूपमें अग्नि आदि छः ही हैं। ॥ ७ ॥

कतमे ते त्रयो देवा इति इम एव त्रयो लोका एषु हीमे सर्वे देवा इति । कतमौ तौ द्वौ देवावित्यन्नं चैव प्राणश्चेति । कतमोऽध्यर्ध इति । योऽयं पवत इति ॥ ८॥

शाकल्य ने पूछा: वे तीन देव कौन हैं ?
याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: 'ये तीन लोक ही तीन देव हैं[19] । इन्हीं में ये सब देव अन्तर्भूत हैं ।

शाकल्य ने पूछा: 'वे दो देव कौन हैं ?
याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: अन्न और प्राण ही दो देव हैं।

शाकल्य ने पूछा: डेढ़ देव कौन हैं?
याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: जो यह बहता है अर्थात बहता हुआ वायु ही डेढ़ देव है। ॥ ८ ॥

तदाहुर्यदयमेक एव एक इवैव पवते ।आथ कथमध्यर्ध इति ।
यदस्मिन्निद९ सर्वमध्यार्ध्नोत् तेनाध्यर्ध इति । कतम एको देव
इति । प्राण इति स ब्रह्म त्यदित्याचक्षते ॥ ९॥

इसी पर आक्षेप करते हुए शाकल्य ने पूछा: यह जो वायु है, एक ही-सा बहता है, फिर यह अध्यर्ध-डेढ़ किस प्रकार है ?'

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: क्योंकि इसीमें यह सब ऋद्धि को प्राप्त होता है, इसलिये यह अध्यर्ध (डेढ़) है ।'

---

[19] तीन लोक और उन के तीन देवता, इन्ही छ: के अन्दर सब कुछ आ जाता है, शेष सभी ३३ देवता इन्ही का रूप है।

शाकल्य ने पूछा: एक देव कौन है ?

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: प्राण, वह ब्रह्म है, उसी को 'त्यत्' ऐसा कहते हैं। ॥ ९ ॥

पृथिव्येव यस्याऽऽयतनमग्निर्लोको मनो ज्योतिर्यो वै तं पुरुषं
विद्यात्सर्वस्याऽऽत्मनः परायणꣳ, परायणं स वै वेदिता स्याद्
याज्ञवल्क्य । वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं
यमात्थ य एवायꣳ शारीरः पुरुषः स एष । वदैव शाकल्य
तस्य का देवतेत्यमृतमिति होवाच ॥ १०॥

शाकल्य ने कहा: पृथिवी ही जिसका शरीर है तथा अग्नि लोक दर्शनशक्ति और मन ज्योति, संकल्प-विकल्प का साधन है, जो उस हर एक आत्मा के परम आश्रय पुरुष को सम्पूर्ण अध्यात्म कार्य-करणसमूह का परायण जानता है, वही ज्ञाता (पण्डित) है। हे याज्ञवल्क्य ! तुम तो बिना जाने ही पण्डित होने का अभिमान कर रहे हो!

याज्ञवल्क्य ने कहा: जिसे तुम सम्पूर्ण आध्यात्मिक कार्य करण संघातका परायण बतलाते हो, उस पुरुषको तो मैं जानता हूँ। यह जो शारीर पुरुष है, वही यह है। शाकल्य ! और बोलो।

शाकल्य ने पूछा: अच्छा, उसका देवता कौन है ?

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: अमृत। ॥१०॥

काम एव यस्याऽऽयतनꣳ हृदयं लोको मनो ज्योतिर्यो वै तं
पुरुषं विद्यात्सर्वस्याऽऽत्मनः परायणꣳ, स वै वेदिता स्याद्
याज्ञवल्क्य । वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं
यमात्थ य एवायं काममयः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का
देवतेति । स्त्रिय इति होवाच ॥ ११॥

शाकल्य ने कहा: कामना काम ही जिसका शरीर है, हृदय लोक हैं और मन ज्योति है, उस पुरुष को जो भी सम्पूर्ण आध्यात्मिक कार्य-करण समूह का परायण जानता है, वही ज्ञाता है। हे याज्ञवल्क्य ! तुम तो बिना जाने ही पण्डित होने का अभिमान कर रहे हो !

याज्ञवल्क्य ने कहा: जिसे तुम सम्पूर्ण आध्यात्मिक कार्य-करणसंघातका परायण बतलाते हों, उस पुरुषको तो मैं जानता हूँ । जो भी यह काममय पुरुष है, वही यह है। हे शाकल्य ! और बोलो ।

शाकल्य ने पूछा: उसका कौन देवता है ?

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: स्त्रियाँ ॥११॥

रूपाण्येव यस्याऽऽयतनं चक्षुर्लोको मनो ज्योतिर्यो वै तं पुरुषं
विद्यात्सर्वस्याऽऽत्मनः परायणꣳ, स वै वेदिता स्याद् याज्ञवल्क्य ।
वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं यमात्थ
य एवासावादित्ये पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति ।

सत्यमिति होवाच ॥ १२॥

शाकल्य ने पूछा: रूप ही जिसका शरीर है, नेत्र लोक है और मन ज्योति है, जो भी उस पुरुष को सम्पूर्ण अध्यात्म कार्य-करणसमूह का परायण जानता है, वही ज्ञाता है। हे याज्ञवल्क्य ! तुम तो बिना जाने ही पण्डित होने का अभिमान कर रहे हो !

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: तुम जिसे सम्पूर्ण अध्यात्म कार्य-करणसमूहका परायण बतलाते हो, उस पुरुषको तो मैं जानता हूँ। जो भी यह आदित्यमें पुरुष है, वही यह है। हे शाकल्य ! और बोलो।

शाकल्य ने पूछा: उसका देवता कौन है ?

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: सत्य ॥ १२ ॥

आकाश एव यस्याऽऽयतनꣳ श्रोत्रं लोको मनो ज्योतिर्यो वै तं
पुरुषं विद्यात्सर्वस्याऽऽत्मनः परायणꣳ, स वै वेदिता स्याद्
याज्ञवल्क्य । वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं
यमात्थ य एवायꣳ श्रौत्रः प्रातिश्रुत्कः पुरुषः स एष वदैव
शाकल्य तस्य का देवतेति । दिश इति होवाच ॥ १३॥

शाकल्य ने कहा: आकाश ही जिसका शरीर है, श्रोत्र लोक है और मन ज्योति है, जो भी उस पुरुषको सम्पूर्ण अध्यात्म कार्य-करणसमूह का परायण जानता है, वही ज्ञाता है । हे याज्ञवल्क्य ! तुम तो बिना जाने ही पण्डित होनेका अभिमान कर रहे हो!

याज्ञवल्क्य ने कहा: तुम जिसे सम्पूर्ण अध्यात्म कार्य-करणसमूह का परायण कहते हो, उस पुरुषको तो मैं जानता हूँ। जो भी यह सुनने वाला और उत्तर देने वाला पुरुष है, यही वह है, हे शाकल्य ! और बोलो ।

शाकल्य ने पूछा: 'उसका कौन देवता है ?

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: दिशाएँ। ॥ १३ ॥

तम एव यस्याऽऽयतनꣳ हृदयं लोको मनो ज्योतिर्यो वै तं
पुरुषं विद्यात्सर्वस्याऽऽत्मनः परायणꣳ, स वै वेदिता स्याद्
याज्ञवल्क्य । वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं
यमात्थ य एवायं छायामयः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य
का देवतेति । मृत्युरिति होवाच ॥ १४॥

शाकल्य ने कहा: तम ही जिसका आयतन है, हृदय लोक है, मन ज्योति है, जो भी उस पुरुष को सम्पूर्ण अध्यात्म कार्य-करणसमूह का परायण जानता है, वही ज्ञाता है, याज्ञवल्क्य ! तुम तो बिना जाने ही पण्डित होने का अभिमान कर रहे हो !

याज्ञवल्क्य ने कहा: तुम जिसे समस्त आध्यात्मिक कार्य-करणसमूहका परायण बतलाते हो, उस पुरुषको तो मैं जानता हूँ। जो भी यह छायामय पुरुष है, वही यह है। हे शाकल्य ! और बोलो।'

शाकल्य ने पूछा: 'उसका कौन देवता है ?

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: मृत्यु ॥ १४ ॥

रूपाण्येव यस्याऽऽयतनं चक्षुर्लोको मनो ज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्याऽऽत्मनः परायणᳬ, परायणं स वै वेदिता स्याद् याज्ञवल्क्य । वेद वा अहं तं पुरुषᳬ सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं यमात्थ य एवायमादर्शे पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेत्यसुरिति होवाच ॥ १५॥

शाकल्य ने कहा: प्रकाशमय रूप ही जिसका शरीर है, नेत्र लोक है और मन ज्योति है, उस पुरुष को जो भी सम्पूर्ण अध्यात्म कार्य-करणसंघात का परायण जानता है, वही ज्ञाता है। हे याज्ञवल्क्य! तुम तो बिना जाने ही पण्डित होने का अभिमान कर रहे हो !

याज्ञवल्क्य ने कहा: तुम जिसे सम्पूर्ण अध्यात्म कार्य-करणसंघात का परायण बतलाते हो, उस पुरुषको तो मैं जानता हूँ। जो भी यह आदर्श (दर्पण) के भीतर पुरुष है, वही यह है। हे शाकल्य ! और बोलो।

शाकल्य ने पूछा: 'उसका देवता कौन है ?

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: प्राण ॥ १५॥

आप एव यस्याऽऽयतनᳬ हृदयं लोको मनो ज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्याऽऽत्मनः परायणᳬ, परायणं स वै वेदिता स्याद्

याज्ञवल्क्य । वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं यमात्थ य एवायमप्सु पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति। वरुण इति होवाच ॥ १६॥

शाकल्य ने कहा: 'जल ही जिसका शरीर है, हृदय लोक हैं और मन ज्योति है, उस पुरुष को जो भी सम्पूर्ण अध्यात्म कार्य-करण संघात का परायण जानता है, वही ज्ञाता है। हे याज्ञवल्क्य ! तुम तो बिना जाने ही विद्वान् होने का अभिमान कर रहे हो!

याज्ञवल्क्य ने कहा: 'जिसे तुम सम्पूर्ण अध्यात्म कार्य-करण समूह का परायण बतलाते हो, उस पुरुष को तो मैं जानता हूँ। जो भी यह जल में पुरुष है, वही यह है। हे शाकल्य! और बोलो।

शाकल्य ने पूछा: उसका कौन देवता है ?

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: वरुण ॥ १६ ॥

रेत एव यस्याऽऽयतनꣳ हृदयं लोको मनो ज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्याऽऽत्मनः परायणꣳ, स वै वेदिता स्याद् याज्ञवल्क्य । वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं यमात्थ य एवायं पुत्रमयः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति । प्रजापतिरिति होवाच ॥ १७॥

शाकल्य ने कहा: 'वीर्य ही जिसका शरीर है, हृदय लोक है और मन ज्योति है, जो भी उस पुरुष को सम्पूर्ण अध्यात्म कार्य-करण संघात का परायण जानता है, वही ज्ञाता है । हे याज्ञवल्क्य! तुम तो बिना जाने ही विद्वान् होनेका अभिमान कर रहे हो!

याज्ञवल्क्य ने कहा: जिसे तुम सम्पूर्ण अध्यात्म कार्य-करण समूह का परायण बतलाते हो, उस पुरुष को तो मैं जानता हूँ। जो भी यह पुत्ररूप पुरुष है, वही यह है। हे शाकल्य! और बोलो।

शाकल्य ने पूछा: 'उसका कौन देवता है ?

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: प्रजापति ॥१७॥

शाकल्येति होवाच याज्ञवल्क्यस्त्वाꣳ स्विदिमे ब्राह्मणा
अङ्गारावक्षयणमक्रता३ इति ॥ १८॥

याज्ञवल्क्य ने कहा: शाकल्य! इन ब्राह्मणों ने निश्चय ही तुम्हें अंगारे निकालने का चिमटा बना रखा है। ॥१८॥

याज्ञवल्क्येति होवाच शाकल्यो यदिदं कुरुपञ्चालानां
ब्राह्मणानत्यवादीः किं ब्रह्म विद्वानिति । दिशो वेद सदेवाः सप्रतिष्ठा
इति । यद्दिशो वेत्थ सदेवाः सप्रतिष्ठाः ॥ १९॥

शाकल्य ने कहा: हे याज्ञवल्क्य ! यह जो तुम इन कुरु पाञ्चालदेशीय ब्राह्मणों पर आक्षेप करते हो, सो क्या तुम ब्रह्मवेत्ता हो ऐसा समझकर करते हो ?

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: मेरा ब्रह्म ज्ञान यह है कि मैं देवता और प्रतिष्ठा के सहित दिशाओं का ज्ञान रखता हूँ।

शाकल्य ने कहा: यदि तुम देवता और प्रतिष्ठाके सहित दिशाओंको जानते हो' ॥ १९ ॥

किन्देवतोऽस्यां प्राच्यां दिश्यसीत्यादित्यदेवत इति । स आदित्यः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति । चक्षुषीति । कस्मिन्नु चक्षुः प्रतिष्ठितमिति । रूपेष्विति चक्षुषा हि रूपाणि पश्यति । कस्मिन्नु रूपाणि प्रतिष्ठितानीति । हृदय इति होवाच हृदयेन हि रूपाणि जानाति हृदये ह्येव रूपाणि प्रतिष्ठितानि भवन्तीत्येवमेवैतद् याज्ञवल्क्य ॥ २०॥

शाकल्य ने पूछा: इस पूर्वदिशामें तुम किस देवतासे युक्त हो ?

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: वहाँ मैं आदित्य (सूर्य) देवतावाला हूँ।

शाकल्य ने पूछा: 'वह आदित्य किसमें प्रतिष्ठित है ?

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: नेत्रमें

शाकल्य ने पूछा: 'नेत्र किसमें प्रतिष्ठित है ?

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: 'रूपों में, क्योंकि पुरुष नेत्र से ही रूपों को देखता है।

शाकल्य ने पूछा: 'रूप किसमें प्रतिष्ठित है ?

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: हृदयमें, क्योंकि पुरुष हृदयसे ही रूपोंको जानता है, अतः हृदयमें ही रूप प्रतिष्ठित हैं।'

शाकल्य ने कहा: 'हे याज्ञवल्क्य! यह बात ऐसी ही है ॥२०॥

किन्देवतोऽस्यां दक्षिणायां दिश्यसीति । यमदेवत इति । स यमः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति । यज्ञ इति । कस्मिन्नु यज्ञः प्रतिष्ठित इति। दक्षिणायामिति । कस्मिन्नु दक्षिणा प्रतिष्ठितेति श्रद्धायामिति यदा ह्येव श्रद्धत्तेऽथ दक्षिणां ददाति श्रद्धायाँ ह्येव दक्षिणा प्रतिष्ठितेति कस्मिन्नु श्रद्धा प्रतिष्ठितेति हृदय इति होवाच हृदयेन हि श्रद्धां जानाति हृदये ह्येव श्रद्धा प्रतिष्ठिता भवतीत्येवमेवैतद् याज्ञवल्क्य ॥ २१॥

शाकल्य ने पूछा: इस दक्षिण दिशामें तुम कौन-से देवतावाले हो ?
याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: यमदेवता हूँ

शाकल्य ने पूछा: 'वह यमदेवता किसमें प्रतिष्ठित है ?

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: 'यज्ञमें ।

शाकल्य ने पूछा: 'यज्ञ किसमें प्रतिष्ठित है ?
याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: 'दक्षिणा में ।

शाकल्य ने पूछा: 'दक्षिणा किसमें प्रतिष्ठित है ?"
याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: श्रद्धा में क्योंकि जब पुरुष श्रद्धा करता है, तभी दक्षिणा देता है, अतः श्रद्धा में ही दक्षिणा प्रतिष्ठित है।

शाकल्य ने पूछा: 'श्रद्धा किसमें प्रतिष्ठित है ?
याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: हृदय में, क्योंकि हृदयसे ही पुरुष श्रद्धाको जानता है, अतः हृदयमें ही श्रद्धा प्रतिष्ठित है ।

शाकल्य ने कहा: 'हे याज्ञवल्क्य! यह बात ऐसी ही है ॥२१॥

किन्देवतोऽस्यां प्रतीच्यां दिश्यसीति । वरुणदेवत इति । स वरुणः कस्मिन् प्रतिष्ठित इत्यप्स्विति । कस्मिन्न्वापः प्रतिष्ठितेति रेतसीति । कस्मिन्नु रेतः प्रतिष्ठितेति इति हृदय इति तस्मादपि प्रतिरूपं जातमाहुर्हृदयादिव सृप्तो हृदयादिव निर्मित इति हृदये ह्येव रेतः प्रतिष्ठितं भवतीत्येवमेवैतद् याज्ञवल्क्य ॥ २२॥

शाकल्य ने पूछा: 'इस पश्चिम दिशामें तुम कौन-से देवतावाले हो ?
याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: 'वरुण देवता हूँ।

शाकल्य ने पूछा: 'वह वरुण किसमें प्रतिष्ठित है?

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: 'जलमें ।

शाकल्य ने पूछा: 'जल किसमें प्रतिष्ठित है ?
याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: 'वीर्यमें ।

शाकल्य ने पूछा: 'वीर्य किसमें प्रतिष्ठित है ?"
याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: हृदयमें, इसी से पिताके अनुरूप उत्पन्न हुए पुत्र को लोग कहते हैं कि यह मानो पिता के हृदयसे ही निकला है, मानो पिता के हृदय से ही बना है, क्योंकि हृदय में ही वीर्य स्थित रहता है ।'

शाकल्य ने कहा: 'हे याज्ञवल्क्य! यह बात ऐसी ही है ॥२२॥

किन्देवतोऽस्यामुदीच्यां दिश्यसीति । सोमदेवत इति । स सोमः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति । दीक्षायामिति । कस्मिन्नु दीक्षा प्रतिष्ठितेति सत्य इति तस्मादपि दीक्षितमाहुः सत्यं वदेति सत्ये ह्येव दीक्षा प्रतिष्ठितेति कस्मिन्नु सत्यं प्रतिष्ठितमिति हृदय इति होवाच हृदयेन हि सत्यं जानाति हृदये ह्येव सत्यं प्रतिष्ठितं भवतीत्येवमेवैतद् याज्ञवल्क्य ॥ २३॥

शाकल्य ने पूछा: इस उत्तर दिशामें तुम किस देवतावाले हो ?
याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: 'सोम देवता हूँ।

शाकल्य ने पूछा: 'वह सोम किसमें प्रतिष्ठित है ?"
याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: 'दीक्षामें ।

शाकल्य ने पूछा: 'दीक्षा किसमें प्रतिष्ठित है ?
याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: 'सत्यमें, इसीसे दीक्षित पुरुषसे कहते हैं कि सत्य बोलो, क्योंकि सत्यमें ही दीक्षा प्रतिष्ठित है ।

शाकल्य ने पूछा: 'सत्य किसमें प्रतिष्ठित है ?
याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: 'हृदयमें । क्योंकि पुरुष हृदयसे ही सत्यको जानता है, अतः हृदयमें ही सत्य प्रतिष्ठित है।

शाकल्य ने कहा: 'हे याज्ञवल्क्य! यह बात ऐसी ही है ॥२३॥

किन्देवतोऽस्यां ध्रुवायां दिश्यसीत्यग्निदेवत इति । सोऽग्निः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति वाचीति । कस्मिन्नु वाक्प्रतिष्ठितेति हृदय इति । कस्मिन्नु हृदयं प्रतिष्ठितमिति

शाकल्य ने पूछा: 'इस ध्रुवा दिशामें तुम कौन देवतावाले हो ?
याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: 'अग्नि देवता हूँ।'

शाकल्य ने पूछा: 'वह अग्नि किसमें प्रतिष्ठित है ?
याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: वाणी में ।

शाकल्य ने पूछा: वाणी किसमें प्रतिष्ठित है ?
याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: 'हृदयमें ।

शाकल्य ने पूछा: 'हृदय किसमें प्रतिष्ठित है ? ॥ २४ ॥

अहल्लिकेति होवाच याज्ञवल्क्यो यत्रैतदन्यत्रास्मन्मन्यासै ।
यद्ध्येतदन्यत्रास्मत्स्याच्छ्वानो वैनदद्युर्वयाꣳसि
वैनद्विमथ्नीरन्निति ॥ २५॥

याज्ञवल्क्य ने कहा: अहल्लिक ! (प्रेत!)' जिस समय तुम इसे हमसे अलग मानते हो, उस समय यदि यह हमसे अलग हो जाय तो इसे कुत्ते खा जाय, अथवा इसे पक्षी चोंच मारकर मथ डालें ॥ २५॥

कस्मिन्नु त्वं चात्मा च प्रतिष्ठितौ स्थ इति । प्राण इति । कस्मिन्नु
प्राणः प्रतिष्ठित इत्यपान इति । कस्मिन्न्वपानः प्रतिष्ठित इति ।
व्यान इति । कस्मिन्नु व्यानः प्रतिष्ठित इत्युदान इति । कस्मिन्नूदानः
प्रतिष्ठित इति । समान इति । स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न
हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसङ्गो न हि सज्यतेऽसितो
न व्यथते न रिष्यत्येतान्यष्टावायतनान्यष्टौ लोका अष्टौ देवा
अष्टौ पुरुषाः । स यस्तान्पुरुषान्निरुह्य प्रत्युह्यात्यक्रामत् तं
त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि । तं चेन्मे न विवक्ष्यसि मूर्धा
ते विपतिष्यतीति । तꣳ ह न मेने शाकल्यस्तस्य ह मूर्धा विपपात
अपि हास्य परिमोषिणोऽस्थीन्यपजह्रुरन्यन्मन्यमानाः ॥ २६॥

शाकल्य ने पूछा: 'तुम (शरीर) और आत्मा (हृदय) किसमें प्रतिष्ठित हो ?

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: 'प्राण में ।'

शाकल्य ने पूछा: प्राण किसमें प्रतिष्ठित है ?

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: अपान में।
शाकल्य ने पूछा: अपान किसमें प्रतिष्ठित है ?
याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: व्यान में ।
शाकल्य ने पूछा: व्यान किसमें प्रतिष्ठित है ?
याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: 'उदान में ।
शाकल्य ने पूछा: 'उदान किसमें प्रतिष्ठित है 'समानमें
याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया: समान मे ।

जिसका 'नेति-नेति' कहकर वर्णन किया गया है, वह आत्मा

अगृह्य है-वह ग्रहण नहीं किया जा सकता,
अशीर्ण है - वह शीर्ण (नष्ट) नहीं होता,
असंग है-वह संयुक्त नहीं होता,
असित है-वह व्यथित और हिसित नहीं होता ।

ये आठ पृथ्वी आदि शरीर हैं, आठ अग्नि आदि लोक हैं, आठ अमृत इत्यादि देव हैं और आठ पुरुष हैं । वह जो उन पुरुषों को निश्चय पूर्वक जानकर उनका अपने हृदय में उपसंहार करके औषधिक धर्म का अतिक्रमण किये हुए है, उस औपनिषद पुरुषको मैं पूछता हूँ: यदि तुम मुझे उसे स्पष्टतया न बतला सकोगे तो तुम्हारा मस्तक गिर जायगा। किंतु शाकल्य उसे नहीं जानता था, इसलिये उसका मस्तक गिर गया। यही नहीं, अपितु चोर उसकी हड्डियों को कुछ और समझकर चुरा ले गये ॥२६॥

अथ होवाच ब्राह्मणा भगवन्तो यो वः कामयते स मा पृच्छतु
सर्वे वा मा पृच्छत यो वः कामयते तं वः पृच्छामि सर्वान्वा
वः पृच्छामीति । ते ह ब्राह्मणा न दधृषुः ॥ २७॥

फिर याज्ञवल्क्य ने कहा: पूज्य ब्राह्मणगण ! आपमेंसे जिसकी इच्छा हो वह मुझसे प्रश्न करे, अथवा आप सभी मुझसे प्रश्न करें अथवा इसी प्रकार आप में से जिसकी इच्छा हो, उससे मैं प्रश्न करता हूँ या आप सभी से मैं प्रश्न करता हूँ। किंतु उन ब्राह्मणों का साहस नहीं हुआ ॥२७॥

याज्ञवल्क्य के प्रश्न

तान्हैतैः श्लोकैः पप्रच्छ यथा वृक्षो वनस्पतिस्तथैव
पुरुषोऽमृषा तस्य लोमानि पर्णानि त्वगस्योत्पाटिका बहिः ॥ १॥

याज्ञवल्क्य ने उन ब्राह्मणों से इन श्लोकों द्वारा प्रश्न किया-

वनस्पति , विशालता आदि गुणों से युक्त वृक्ष जैसा अर्थात जिन धर्मो से युक्त होता है, पुरुष, जीव का शरीर भी वैसा ही, उन्हीं धर्मों से सम्पन्न होता है, यह बिल्कुल सत्य है । वृक्ष के पत्ते होते हैं और उस पुरुष के शरीर में पत्तों की जगह रोएँ होते हैं; उसके शरीर में जो त्वचा है, उसकी समता में इस वृक्ष के बाहरी भाग में छाल होती है ॥१॥

त्वच एवास्य रुधिरं प्रस्यन्दि त्वच उत्पटः तस्मात्तदतृण्णात्प्रैति रसो
वृक्षादिवाऽऽहतात् ॥ २॥

इस पुरुष की त्वचा से ही रक्त चूता है और वृक्ष की भी त्वचा (छाल) से ही गोंद निकलता है। वृक्ष और पुरुष की इस समानता के कारण ही जिस प्रकार आघात लगने पर वृक्ष से रस निकलता है, उसी प्रकार चोट खाये हुए पुरुष के शरीर से रक्त प्रवाहित होता है ॥ २ ॥

माꣳसान्यस्य शकराणि किनाटꣳस्नाव तत्स्थिरम् ।
अस्थीन्यन्तरतो दारूणि मज्जा मज्जोपमा कृता ॥ ३॥

पुरुष के शरीर में मांस होते हैं और वृक्ष की छाल के अन्दर नर्म छिलके (छाल का भीतरी अंश), पुरुष के स्नायु-जाल होते हैं और वृक्ष में रेशे। वह रेशे स्नायु की ही भाँति स्थिर होते हैं। पुरुष के स्नायु-जाल के भीतर जैसे हड्डियाँ होती हैं, वैसे ही वृक्ष में रेशों के भीतर काष्ठ हैं तथा मज्जा तो दोनों में मज्जा के ही समान निश्चित की गयी है ॥ ३ ॥

यद्वृक्षो वृक्णो रोहति मूलान्नवतरः पुनः मर्त्यः
स्विन्मृत्युना वृक्णः कस्मान्मूलात्प्ररोहति ॥ ४॥

किंतु यदि वृक्षको काट दिया जाता है तो वह अपने मूल से दोबाराऔर भी नवीन होकर अंकुरित हो जाता है। इसी प्रकार यदि मनुष्य को मृत्यु काट डाले तो वह किस मूल से उत्पन्न होगा? ॥ ४ ॥

रेतस इति मा वोचत जीवतस्तत्प्रजायते धानारुह इव वै वृक्षोऽञ्जसा प्रेत्य सम्भवः ॥ ५॥

वह वीर्य से उत्पन्न होता है ऐसा तो मत कहो, क्योंकि वीर्य तो जीवित पुरुष से ही उत्पन्न होता है मृत पुरुषसे नहीं। वृक्ष भी केवल तने से ही नहीं उत्पन्न होता, बीज से भी उत्पन्न होता है, किंतु बीज से उत्पन्न होनेवाला वृक्ष भी कट जाने के पश्चात् पुनः अंकुरित होकर उत्पन्न होता है, यह प्रत्यक्ष देखा गया है ॥ ५ ॥

यत्समूलमावृहेयुर्वृक्षं न पुनराभवेत् ।
मर्त्यःस्विन्मृत्युना वृक्णः कस्मान्मूलात्प्ररोहति ॥ ६॥

यदि वृक्ष को मूलसहित उखाड़ दिया जाय तो वह फिर उत्पन्न नहीं होगा; इसी प्रकार यदि मनुष्य का मृत्यु छेदन कर दे तो वह किस मूल से उत्पन्न होता है ? ॥ ६ ॥

जात एव न जायते को न्वेनं जनयेत्पुनः विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रातिर्दातुः परायणं तिष्ठमानस्य तद्विद इति ॥ ७॥   ॥ २८ ॥

यदि ऐसा मानो कि पुरुष तो उत्पन्न हो ही गया है, अतः फिर उत्पन्न नहीं होता तो यह ठीक नहीं; क्योंकि वह मरकर पुनः उत्पन्न होता ही है ऐसी दशामें मृत्युके पश्चात् इसे पुनः कौन उत्पन्न करेगा ?

यह प्रश्न है; ब्राह्मणों ने इसका कोई उत्तर नहीं दिया, इसलिये श्रुति स्वयं ही उसका निर्देश करती है- विज्ञान आनन्द ब्रह्म है, वह धनदाता, कर्म करनेवाले यजमान की परम गति है और ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्मवेत्ता का भी परम आश्रय है ॥ ७ ॥ ॥ २८ ॥

॥ इति नवमं ब्राह्मणम् ॥

॥ नौवां ब्राह्मण समाप्त ॥

॥ इति बृहदारण्यकोपनिषदि तृतीयोऽध्यायः ॥

॥ बृहदारण्य उपनिषद का तीसरा अध्याय समाप्त ॥

॥ श्री हरि ॥

॥बृहदारण्यकोपनिषद॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः - प्रथमं ब्राह्मणम्

चतुर्थ अध्याय

प्रथम ब्राह्मण

ॐ जनको ह वैदेह आसां चक्रेऽथ ह याज्ञवल्क्य आवव्राज। तꣳ होवाच याज्ञवल्क्य किमर्थमचारीः पशूनिच्छन्नण्वन्तानित्युभयमेव सम्राड् इति होवाच ॥ १॥

विदेह जनक आसन पर बैठे थे। तभी उनके पास याज्ञवल्क्य जी आये। उनसे जनक ने कहा, 'याज्ञवल्क्य जी! कैसे आये? पशुओं की इच्छा से, अथवा सूक्ष्मान्त प्रश्न श्रवण करने के लिये ?' 'राजन् ! मैं दोनों के लिये आया हूँ! ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा। ॥१॥

यत्ते कश्चिदब्रवीत् तच्छृणवामेत्यब्रवीन् मे जित्वा शैलिनिर्वाग्वै ब्रह्मेति । यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात् तथा तच्छैलिरब्रवीद् वाग्वै ब्रह्मेत्यवदतो हि किꣳ स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्याऽऽयतनं प्रतिष्ठाम् । न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत् सम्राड् इति । स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य । वागेवाऽऽयतनमाकाशः प्रतिष्ठा

प्रज्ञेत्येनदुपासीत । का प्रज्ञता याज्ञवल्क्य । वागेव सम्राड्
इति होवाच वाचा वै सम्राड् बन्धुः प्रज्ञायत ऋग्वेदो यजुर्वेदः
सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः
सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानीष्टꣳ हुतमाशितं पायितमयं च
लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि वाचैव सर्वाणि च भूतानि
वाचा एव सम्राट् प्रज्ञायन्ते वाग्वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनं
वाग्जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति । देवो भूत्वा देवानप्येति य
एवं विद्वानेतदुपास्ते । हस्त्यृषभꣳ सहस्रं ददामीति होवाच
जनको वैदेहः । स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य
हरेतेति ॥ २॥

याज्ञवल्क्य ने कहा: आपसे यदि किसी आचार्य ने जो कहा है, वह हम सुनें।

जनक ने उत्तर दिया: मुझसे शैलिनी के पुत्र जित्वा ने कहा है कि वाक् ही वाणी ही ब्रह्म है।
याज्ञवल्क्य ने कहा: जिस प्रकार मातृमान्, पितृमान्, आचार्यवान् कहे, उसी प्रकार उस शिलिन के पुत्र ने वाणी ही ब्रह्म है। ऐसा कहा है, क्योंकि न बोलने वालेको क्या लाभ हो सकता है ? किंतु क्या उसने उसके आयतन और प्रतिष्ठा भी बतलाये हैं ?

जनक ने कहा - मुझे नहीं बतलाये।

याज्ञवल्क्य ने कहा: राजन् ! यह तो एक ही पादवाला ब्रह्म है ।'

जनक ने कहा: हे याज्ञवल्क्य! वह हमें आप बतलाइये।

याज्ञवल्क्य बोले: वाणी ही उसका शरीर है और आकाश प्रतिष्ठा है। उसकी प्रज्ञा इस प्रकार उपासना करे।

जनकजी ने कहा: याज्ञवल्क्यजी! प्रज्ञता क्या है ?

याज्ञवल्क्य ने कहा: 'राजन् ! वाणी ही प्रज्ञता है। हे सम्राट् ! वाणी से ही बन्धु का ज्ञान होता है और राजन् ! ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वाअंगिरस वेद, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान, व्याख्यान, इष्ट, हुत, आशित (भूखे को अन्न खिलानेसे होनेवाले धर्म), पायित (प्यासेको पानी पिलानेसे होने वाले धर्म), यह लोक, परलोक और समस्त भूत वाणी ही जाने जाते हैं। हे सम्राट् ! वाणी ही परब्रह्म है । इस प्रकार उपासना करनेवाले को वाणी नहीं त्यागती, सम्पूर्ण प्राणी उसको उपहार देते हैं। जो विद्वान् इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह देव होकर देवों को प्राप्त होता है।

विदेहराज जनकने कहा: मैं आपको जिनसे हाथी के समान बैल उत्पन्न करने वाली सहस्र गौएँ देता हूँ।'

याज्ञवल्क्य ने कहा: मेरे पिताका विचार था कि शिष्यको उपदेश के द्वारा कृतार्थ किये बिना उसका धन नहीं ले जाना चाहिये। ॥२॥

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्म ऊदङ्कः शौल्बायनः
प्राणो वै ब्रह्मेति । यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्
तथा तच्छौल्वायनोऽब्रवीत् प्राणो वै ब्रह्मेत्यप्राणतो हि
किꣳ स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्याऽऽयतनं प्रतिष्ठाम् । न
मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत् सम्राड् इति । स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य ।
प्राण एवाऽऽयतनमाकाशः प्रतिष्ठा प्रियमित्येनदुपासीत ।
का प्रियता याज्ञवल्क्य । प्राण एव सम्राड् इति होवाच प्राणस्य
वै सम्राट् कामायायाज्यं याजयत्यप्रतिगृह्यस्य प्रतिगृह्णात्यपि
तत्र वधाशङ्कं भवति यां दिशमेति प्राणस्यैव सम्राट् कामाय
प्राणो वै सम्राट् परमं ब्रह्म । नैनं प्राणो जहाति सर्वाण्येनं
भूतान्यभिक्षरन्ति । देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते ।
हस्त्यृषभꣳ सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः । स
होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥ ३॥

याज्ञवल्क्य ने कहा: आपसे यदि किसी आचार्य ने जो कहा है, वह हम सुनें।

जनक ने उत्तर दिया: मुझसे शुल्ब के पुत्र उद्दंक ने कहा है कि प्राण ही ब्रह्म है।

याज्ञवल्क्य ने कहा: जिस प्रकार मातृमान्, पितृमान्, आचार्यवान् कहे, उसी प्रकार उस शुल्ब के पुत्र ने यह कहा कि प्राण ही ब्रह्म है। क्योंकि प्राण क्रिया न करने वाले को क्या लाभ हो सकता ह ? किंतु क्या उसने उसका शरीर और प्रतिष्ठा भी बतलाये हैं ?

जनक ने कहा - मुझे नहीं बतलाये।

याज्ञवल्क्य ने कहा: राजन्! यह तो एक ही पादवाला ब्रह्म है।

जनक ने कहा: हे याज्ञवल्क्य! वह हमें आप बतलाइये।

याज्ञवल्क्य बोले: प्राण ही आयतन है, आकाश प्रतिष्ठा है और वह प्रिय है, इस प्रकार उपासना करे।

जनकजी ने कहा: याज्ञवल्क्यजी! प्रियता क्या है?

याज्ञवल्क्य ने कहा: हे सम्राट ! प्राण ही प्रियता है। राजन्! प्राण के लिये ही अयाज्य से यजन कराते हैं, दान न लेने योग्य से दान लेते हैं तथा जिस दिशा में जाते हैं, वहाँ वध की आशंका से डरते हैं। हे सम्राट् ! यह सब प्राण के ही लिये होता है। हे राजन्! प्राण ही परम ब्रह्म है । जो विद्वान् इसकी इस प्रकार उपासना करता है, उसे प्राण नहीं त्यागता, उसको सभी प्राणी उपहार देते हैं और वह देव बनकर देवों को प्राप्त होता है।

विदेहराज जनकने कहा: मैं आपको जिनसे हाथी के समान बैल उत्पन्न करने वाली सहस्र गौएँ देता हूँ।'

याज्ञवल्क्य ने कहा: मेरे पिताका विचार था कि शिष्यको उपदेश के द्वारा कृतार्थ किये बिना उसका धन नहीं ले जाना चाहिये। ॥३॥

यदेव ते कश्चिदब्रवीत् तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे
बर्कुर्वार्ष्णश्चक्षुर्वै ब्रह्मेति । यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्
ब्रूयात् तथा तद्वार्ष्णोऽब्रवीत्चक्षुर्वै ब्रह्मेत्यपश्यतो
हि किंᳪ स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्याऽऽयतनं प्रतिष्ठाम् । न
मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत् सम्राड् इति । स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य ।
चक्षुरेवाऽऽयतनमाकाशः प्रतिष्ठा सत्यमित्येतदुपासीत । का
सत्यता याज्ञवल्क्य । चक्षुरेव सम्राड् इति होवाच चक्षुषा वै
सम्राट् पश्यन्तमाहुरद्राक्षीरिति । स आहाद्राक्षमिति तत्सत्यं भवति
चक्षुर्वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनं चक्षुर्जहाति सर्वाण्येनं
भूतान्यभिक्षरन्ति । देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते ।
हस्त्यृषभᳪ सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः । स
होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥४॥

याज्ञवल्क्य ने कहा: आपसे यदि किसी आचार्य ने जो कहा है, वह हम सुनें।

जनक ने उत्तर दिया: मुझसे वृष्ण के पुत्र बर्कु ने कहा है कि नेत्र ही ब्रह्म है ।

याज्ञवल्क्य ने कहा: जिस प्रकार मातृमान्, पितृमान्, आचार्यवान् कहे, उसी प्रकार उस वार्ष्ण ने ऐसा कहा है कि नेत्र ही ब्रह्म है। क्योंकि न देखनेवाले को क्या लाभ हो सकता है ? किंतु क्या उसने तुम्हें उसके शरीर और आश्रय भी बतलाये हैं ?

जनक ने कहा - मुझे नहीं बतलाये।

याज्ञवल्क्य ने कहा: राजन्! यह तो एक ही पादवाला ब्रह्म है।

जनक ने कहा: हे याज्ञवल्क्य! वह हमें आप बतलाइये।

याज्ञवल्क्य बोले: नेत्र ही शरीर है, आकाश आश्रय है, इसकी 'सत्य' इस रूपसे उपासना करे।

जनकजी ने कहा: याज्ञवल्क्यजी! सत्यता क्या है?

याज्ञवल्क्य ने कहा: हे राजन् ! नेत्र ही सत्यता है। हे सम्राट्! नेत्र से देखने वाले से ही 'क्या तूने देखा' जब ऐसा कहा जाता है और वह कहता है कि 'मैंने देखा" तो वह सत्य होता है। राजन्! चक्षु ही परम ब्रह्म है। जो विद्वान् इसकी इस प्रकार उपासना करता है उसको सभी प्राणी उपहार देते हैं और वह देव बनकर देवों को प्राप्त होता है।

विदेहराज जनकने कहा: मैं आपको जिनसे हाथी के समान बैल उत्पन्न करने वाली सहस्र गौएँ देता हूँ।'

याज्ञवल्क्य ने कहा: मेरे पिताका विचार था कि शिष्यको उपदेश के द्वारा कृतार्थ किये बिना उसका धन नहीं ले जाना चाहिये। ॥४॥

यदेव ते कश्चिदब्रवीत् तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे गर्दभीविपीतो
भारद्वाजः श्रोत्रं वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्

तथा तद्भारद्वाजोऽब्रवीच्छ्रोत्रं वै ब्रह्मेत्यशृण्वतो
हि किꣳ स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्याऽऽयतनं प्रतिष्ठाम् । न
मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत् सम्राड् इति । स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य ।
श्रोत्रमेवाऽऽयतनमाकाशः प्रतिष्ठाऽनन्तमित्येनदुपासीत ।
काऽनन्तता याज्ञवल्क्य । दिश एव सम्राड् इति होवाच तस्माद्वै
सम्राड् अपि यां काञ्च दिशं गच्छति नैवास्या अन्तं गच्छत्यनन्ता
हि दिशो दिशो वै सम्राट् श्रोत्रꣳश्रोत्रं वै सम्राट् परमं
ब्रह्म । नैनꣳ श्रोत्रं जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति ।
देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते । हस्त्यृषभꣳ
सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः । स होवाच याज्ञवल्क्यः
पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥ ५॥

याज्ञवल्क्य ने कहा: आपसे यदि किसी आचार्य ने जो कहा है, वह हम सुनें।

जनक ने उत्तर दिया: मुझ से भारद्वाजगोत्रोत्पन्न गर्दभीविपीतने कहा है कि श्रोत्र ही ब्रह्म है।

याज्ञवल्क्य ने कहा: जिस प्रकार मातृमान्, पितृमान्, आचार्यवान् कहे, उसी प्रकार उस भारद्वाज ने ऐसा कहा है कि श्रोत्र ही ब्रह्म है। क्योंकि न सुनने वाले को क्या लाभ हो सकता है? किंतु क्या उसने तुम्हें उसके शरीर और आश्रय भी बतलाये हैं ?

जनक ने कहा - मुझे नहीं बतलाये।

याज्ञवल्क्य ने कहा: राजन्! यह तो एक ही पादवाला ब्रह्म है।

जनक ने कहा: हे याज्ञवल्क्य! वह हमें आप बतलाइये।

याज्ञवल्क्य बोले: श्रोत ही शरीर है, आकाश आश्रय है, यह अनंत है इसकी इस रूप से उपासना करे।

जनकजी ने कहा: याज्ञवल्क्यजी! अनंतता क्या है?

याज्ञवल्क्य ने कहा: हे सम्राट् ! दिशाएँ ही अनन्तता हैं। इसी से हे सम्राट्! कोई भी जिस किसी दिशा को जाता है, वह उसका अन्त नहीं पाता, क्योंकि दिशाएँ अनन्त हैं और हे सम्राट् ! दिशाएँ ही श्रोत्र हैं। श्रोत्र ही परम ब्रह्म है। जो विद्वान् इसकी इस प्रकार उपासना करता है, श्रोत्र उसका त्याग नहीं करता, उसको सभी प्राणी उपहार देते हैं और वह देव बनकर देवों को प्राप्त होता है।

विदेहराज जनकने कहा: मैं आपको जिनसे हाथी के समान बैल उत्पन्न करने वाली सहस्र गौएँ देता हूँ।

याज्ञवल्क्य ने कहा: मेरे पिताका विचार था कि शिष्यको उपदेश के द्वारा कृतार्थ किये बिना उसका धन नहीं ले जाना चाहिये। ॥५॥

यदेव ते कश्चिदब्रवीत् तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे सत्यकामो जाबालो
मनो वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात् तथा

तज्जाबालो अब्रवीन् मनो वै ब्रह्मेत्यमनसो हि किꣳ स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्याऽऽयतनं प्रतिष्ठाम् । न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत् सम्राड् इति । स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य । मन एवाऽऽयतनमाकाशः प्रतिष्ठाऽऽनन्द इत्येनदुपासीत । काऽऽनन्दता याज्ञवल्क्य । मन एव सम्राड् इति होवाच मनसा वै सम्राट् स्त्रियमभिहार्यते तस्यां प्रतिरूपः पुत्रो जायते स आनन्दो । मनो वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनं मनो जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति । देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते । हस्त्यृषभꣳ सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः । स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥ ६॥

याज्ञवल्क्य ने कहा: आपसे यदि किसी आचार्य ने जो कहा है, वह हम सुनें।

जनक ने उत्तर दिया: मुझ से जबाला के पुत्र सत्यकाम ने कहा है कि मन ही ब्रह्म है।

याज्ञवल्क्य ने कहा: जैसे मातृमान्, पितृमान्, आचार्यवान् कहे, उसी प्रकार उस जबाला के पुत्र ने ऐसा कहा है कि मन ही ब्रह्म है। क्योंकि जो बिना मन के है उसको क्या लाभ हो सकता है? किंतु क्या क्या उसने तुम्हें उसके शरीर और आश्रय भी बतलाये हैं ?

जनक ने कहा - मुझे नहीं बतलाये।

याज्ञवल्क्य ने कहा: राजन्! यह तो एक ही पादवाला ब्रह्म है।

जनक ने कहा: हे याज्ञवल्क्य! वह हमें आप बतलाइये।

याज्ञवल्क्य बोले: मन ही शरीर है, आकाश आश्रय है, यह आनंद है इसकी इस रूप से उपासना करे।

जनकजी ने कहा: याज्ञवल्क्यजी! आनन्दता क्या है?

याज्ञवल्क्य ने कहा: हे सम्राट् ! मन ही आनन्दता है। हे राजन् ! मन से ही स्त्री की इच्छा करता है, उसमें अपने सदृश्य जो पुत्र उत्पन्न होता है, वह आनन्द है। हे सम्राट् ! मन ही परम ब्रह्म है। जो विद्वान् इसकी इस प्रकार उपासना करता है, उसे मन नहीं त्यागता, उसको सभी प्राणी उपहार देते हैं और वह देव बनकर देवों को प्राप्त होता है।

विदेहराज जनकने कहा: मैं आपको जिनसे हाथी के समान बैल उत्पन्न करने वाली सहस्र गौएँ देता हूँ।

याज्ञवल्क्य ने कहा: मेरे पिताका विचार था कि शिष्यको उपदेश के द्वारा कृतार्थ किये बिना उसका धन नहीं ले जाना चाहिये। ॥६॥

यदेव ते कश्चिदब्रवीत् तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे विदग्धः शाकल्यो
हृदयं वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्
तथा तच्छाकल्योऽब्रवीद् धृदयं वै ब्रह्मेत्यहृदयस्य हि

किꣳ स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्याऽऽयतनं प्रतिष्ठां । न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत् सम्राड् इति । स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य । हृदयमेवाऽऽयतनमाकाशः प्रतिष्ठा स्थितिरित्येनदुपासीत । का स्थितिता याज्ञवल्क्य । हृदयमेव सम्राड् इति होवाच हृदयं वै सम्राट् सर्वेषां भूतानामायतनꣳ हृदयं वै सम्राट्, सर्वेषां भूतानां प्रतिष्ठा हृदये ह्येव सम्राट् सर्वाणि भूतानि प्रतिष्ठितानि भवन्ति हृदयं वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनꣳ हृदयं जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति । देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते । हस्त्यृषभꣳ सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः । स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥ ७॥

याज्ञवल्क्य ने कहा: आपसे यदि किसी आचार्य ने जो कहा है, वह हम सुनें।
जनक ने उत्तर दिया: मुझ से विदग्ध शाकल्य ने कहा है कि हृदय ही ब्रह्म है।

याज्ञवल्क्य ने कहा: जैसे मातृमान्, पितृमान्, आचार्यवान् कहे, उसी प्रकार उस उस शाकल्य ने ऐसा कहा है कि हृदय ही ब्रह्म है। क्योंकि हृदयहीनको क्या मिल सकता है ? किंतु क्या क्या उसने तुम्हें उसके शरीर और आश्रय भी बतलाये हैं ?

जनक ने कहा - मुझे नहीं बतलाये।

याज्ञवल्क्य ने कहा: राजन्! यह तो एक ही पादवाला ब्रह्म है।

जनक ने कहा: हे याज्ञवल्क्य! वह हमें आप बतलाइये।

याज्ञवल्क्य बोले: हृदय ही शरीर है, आकाश आश्रय है, यह स्थिति है इसकी इस रूप से उपासना करे।

जनकजी ने कहा: याज्ञवल्क्यजी! स्थितता क्या है?

याज्ञवल्क्य ने कहा: हे सम्राट् ! हृदय ही स्थितता है। राजन् ! हृदय ही समस्त प्राणियों का आयतन है, हृदय ही सभी प्राणियों की प्रतिष्ठा है और हृदय में ही समस्त भूत प्रतिष्ठित होते हैं। हे सम्राट्! हृदय ही परम ब्रह्म है। जो विद्वान् इसकी इस प्रकार उपासना करता है, उसका हृदय त्याग नहीं करता, उसको सभी प्राणी उपहार देते हैं और वह देव बनकर देवों को प्राप्त होता है।

विदेहराज जनकने कहा: मैं आपको जिनसे हाथी के समान बैल उत्पन्न करने वाली सहस्र गौएँ देता हूँ।

याज्ञवल्क्य ने कहा: मेरे पिताका विचार था कि शिष्यको उपदेश के द्वारा कृतार्थ किये बिना उसका धन नहीं ले जाना चाहिये। ॥७॥

॥ इति प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

॥प्रथम ब्राह्मण समाप्त॥

॥ श्री हरि ॥

॥बृहदारण्यकोपनिषद॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः - द्वितीयं ब्राह्मणम्

द्वितीय ब्राह्मण

जनको ह वैदेहः कूर्चादुपावसर्पन्नुवाच नमस्तेऽस्तु याज्ञवल्क्यानु मा शाधीति । स होवाच यथा वै सम्राण् महान्तमध्वानमेष्यन्रथं वा नावं वा समाददीतैवमेवैताभिरुपनिषद्भिः समाहितात्माऽस्यसि एवं वृन्दारक आढ्यः सन्नधीतवेद उक्तोपनिषत्क इतो विमुच्यमानः क्व गमिष्यसीति । नाहं तद् भगवन् वेद यत्र गमिष्यामीत्यथ वै तेऽहं तद्वक्ष्यामि यत्र गमिष्यसीति । ब्रवीतु भगवानिति ॥ १॥

विदेहराज जनक ने अपने एक विशेष प्रकार के आसन से उठ कर याज्ञवल्क्य के समीप जाकर कहा, 'हे याज्ञवल्क्य! आपको नमस्कार है, मुझे उपदेश कीजिये।'

याज्ञवल्क्य ने कहा: 'राजन् ! जिस प्रकार लम्बा मार्ग तय करने वाला पुरुष सम्यक् प्रकार से रथ या नौका का आश्रय ले, उसी प्रकार तू इन उपनिषदों (उपासनाओं) से युक्त प्राणादि ब्रह्मों की उपासना कर समाहित चित्त हो गया है। इस प्रकार तू पूज्य, श्रीमान्, वेदों का पढ़ा हुआ और उक्तोपनिषत्क (जिसे आचार्य ने उपनिषद् का उपदेश कर

दिया है-ऐसा हो गया है । इतना होने पर भी तू इस शरीर से छूटकर कहाँ जायगा?

जनक ने कहा: भगवन् ! मैं कहाँ जाऊँगा, यह तो मुझे मालूम नहीं है।

याज्ञवल्क्य ने कहा: अब मैं तुझे यही बतलाऊँगा–जहाँ तू जायगा।

जनक ने कहा: भगवान् मुझे बताएं। ॥१॥

इन्धो ह वै नामैष योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्तं वा एतमिन्धꣳ
सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेणैव परोक्षप्रिया इव हि देवाः
प्रत्यक्षद्विषः ॥ २॥

यह जो दक्षिण नेत्र में पुरुष है, इन्ध-चमकने वाला नां है, उसी इस पुरुष को इन्ध होते हुए भी परोक्षरूप से इन्द्र कहते हैं, क्योंकि देवगण मानो परोक्ष प्रिय हैं, प्रत्यक्ष से द्वेष करनेवाले हैं। ॥२॥

अथैतद्वामेऽक्षणि पुरुषरूपमेषाऽस्य पत्नी विराट् तयोरेष
सꣳस्तावो य एषोऽन्तर्हृदय आकाशोऽथैनयोरेतदन्नं
य एषोऽन्तर्हृदये लोहितपिण्डोऽथैनयोरेतत्प्रावरणं
यदेतदन्तर्हृदये जालकमिवाथैनयोरेषा सृतिः सञ्चरणी
यैषा हृदयादूर्ध्वा नाड्युच्चरति । यथा केशः सहस्रधा
भिन्न एवमस्यैता हिता नाम नाड्योऽन्तर्हृदये प्रतिष्ठिता

भवन्त्येवमस्य एताशितास्नाम नाड्यसन्तर्हृदये प्रतिष्ठितास्भवन्ति एताभिर्वा एतदास्रवदास्रवति तस्मादेष प्रविविक्ताहारतर इवैव भवत्यस्माच्छारीरादात्मनः ॥ ३॥

और यह जो बायें नेत्र में पुरुष रूप है, वह इन्द्र की पत्नी विराट अन्न है। जो यह हृदयान्तर्गत आकाश है - उन दोनों का यह संस्ताव - मिलन का स्थान है । यह हृदयान्तर्गत लाल पिण्ड -उन दोनों का अन्न है। जो यह हृदयान्त गत जाल जैसा है वह उन दोनों का यह प्रावरण है । जो यह हृदय से ऊपर की ओर नाडी जाती है, वह उन दोनों का यह मार्ग-संचार करने का द्वार है। जिस प्रकार सहस्र भागों में विभक्त हुआ केश होता है, वैसी ही ये हिता नाम की नाडियाँ हृदय के भीतर स्थित हैं। इन्हीं के द्वारा जाता हुआ यह अन्न शरीर में जाता है; इसी से इस स्थूल शरीराभिमानी वैश्वानर से यह सूक्ष्मदेहाभिमानी तैजस सूक्ष्मतर आहार ग्रहण करनेवाला ही होता है। ॥३॥

तस्य प्राची दिक्प्राञ्चः प्राणाः दक्षिणा दिग्दक्षिणे प्राणाः प्रतीची दिक्प्रत्यञ्चः प्राणा उदीची दिगुदञ्चः प्राणाः ऊर्ध्वा दिगूर्ध्वाः प्राणाः अवाची दिगवाञ्चः प्राणाः सर्वा दिशः सर्वे प्राणाः । स एष नेति नेत्याऽत्मागृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसङ्गो न हि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यत्व्यथते असङ्गस्न हि सज्यते असितस्न व्यथते न रिष्यति अभयं वै जनक प्राप्तोऽसीति होवाच याज्ञवल्क्यः । स होवाच जनको वैदेहोऽभयं त्वा गच्छताद् याज्ञवल्क्य यो नो भगवन्न् अभयं वेदयसे नमस्तेऽस्त्विमे विदेहा अयमहमस्मि ॥ ४॥

उस विद्वान के पूर्व दिशा पूर्व प्राण है. दक्षिण दिशा दक्षिण प्राण है, पश्चिम दिशा, पश्चिम प्राण है, उत्तर दिशा उत्तर प्राण है, ऊपर की दिशा ऊपर के प्राण हैं, नीचे की दिशा नीचे के प्राण हैं और सम्पूर्ण दिशाएं सम्पूर्ण प्राण है। वह यह 'नेति नेति' रूप से वर्णन किया हुआ आत्मा अगृहय है, वह ग्रहण नहीं किया जाता, वह अशीर्य है, नष्ट नहीं होता। असंग है, उसका संग नहीं होता। वह अबद्ध है, व्यथित नहीं होता और क्षीण नहीं होता। हे जनक तू निश्चय ही अभय को प्राप्त हो गया है।

उस विदेहराज जनक ने कहा – हे भगवन याज्ञवल्क्य! जिन आपने मुझे अभय ब्रह्म का ज्ञान कराया है, उन आपको अभय प्राप्त हो, आपको नमस्कार हो, ये विदेह देश और मैं स्वयं आपके अधीन हूँ। ॥४॥

॥ इति द्वितीयं ब्राह्मणम्॥

॥द्वितीय ब्राह्मण समाप्त ॥

॥ श्री हरि ॥

॥बृहदारण्यकोपनिषद॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः - तृतीयं ब्राह्मणम्

तृतीय ब्राह्मण

जनकꣳ ह वैदेहं याज्ञवल्क्यो जगाम स मेने न वदिष्य
इति स मेने न वदिष्य इत्यथ ह यज्जनकश्च वैदेहो
याज्ञवल्क्यश्चाग्निहोत्रे समूदाते तस्मै ह याज्ञवल्क्यो वरं ददौ ।
स ह कामप्रश्नमेव वव्रे । तꣳ हास्मै ददौ । तꣳ ह सम्राडेव
पूर्वं पप्रच्छ ॥ १॥

विदेहराज जनक के पास याज्ञवल्क्य गये। उनका विचार था मैं कुछ उपदेश नहीं करूँगा। किंतु, पहले कभी विदेहराज जनक और याज्ञवल्क्य ने अग्निहोत्र के विषय में परस्पर संवाद किया था, उस समय याज्ञवल्क्य ने उसे वर दिया था और उसने इच्छानुसार प्रश्न करना ही माँगा था । यह वर याज्ञवल्क्य ने उसे दे दिया था; अतः उनमे से पहले राजा ने ही प्रश्न किया ॥१॥

याज्ञवल्क्य किञ्ज्योतिरयं पुरुष इत्यादित्यज्योतिः सम्राड् इति
होवाचाऽऽदित्येनैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते पल्ययते कर्म कुरुते
विपल्येतीत्येवमेवैतद् याज्ञवल्क्य ॥ २॥

जनक ने कहा: हे याज्ञवल्क्य ! यह पुरुष किस ज्योतिवाला है ?

याज्ञवल्क्य ने कहा: हे सम्राट्! यह आदित्यरूप ज्योतिवाला है। ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा, 'यह आदित्यरूप ज्योतिसे ही बैठता, सब ओर जाता, कर्म करता और लौट जाता है।

जनक ने कहा: हे याज्ञवल्क्य ! यह बात ऐसी ही है । ॥ २ ॥

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य किञ्ज्योतिरेवायं पुरुष इति । चन्द्रमा एवास्य ज्योतिर्भवतीति चन्द्रमसैवायं ज्योतिषास्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीत्येवमेवैतद् याज्ञवल्क्य ॥ ३॥

जनक ने पूछा कहा: हे याज्ञवल्क्य ! आदित्य के अस्त हो जाने पर यह पुरुष किस ज्योतिवाला होता है ?

याज्ञवल्क्य ने कहा: हे सम्राट्! 'उस समय चन्द्रमा ही इसकी ज्योति होता है, चन्द्रमा रूप ज्योति के द्वारा ही यह बैठता, इधर-उधर जाता, कर्म करता और लौट आता है।

जनक ने कहा: हे याज्ञवल्क्य ! यह बात ऐसी ही है । ॥३॥

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्तमिते किञ्ज्योतिरेवायं पुरुष इत्यग्निरेवास्य ज्योतिर्भवत्यग्निनैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीत्येवमेवैतद् याज्ञवल्क्य ॥ ४॥

जनक ने पूछा कहा: हे याज्ञवल्क्य ! आदित्यके अस्त हो जाने पर तथा चन्द्रमा के अन्त हो जाने पर यह पुरुष किस ज्योतिवाला होता है ?

याज्ञवल्क्य ने कहा: हे सम्राट्! 'उस समय 'अग्नि ही इसकी ज्योति होता है । यह अग्निरूप ज्योति के द्वारा ही बैठता, इधर-उधर जाता, कर्म करता और लौट आता है।

जनक ने कहा: हे याज्ञवल्क्य ! यह बात ऐसी ही है। ॥४॥

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्तमिते शान्तेऽग्नौ किञ्ज्योतिरेवायं पुरुष इति । वागेवास्य ज्योतिर्भवतीति वाचैवायं ज्योतिषास्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीति । तस्माद्वै सम्राड् अपि यत्र स्वः पाणिर्न विनिर्ज्ञायतेऽथ यत्र वागुच्चरत्युपैव तत्र न्येतीत्येवमेवैतद् याज्ञवल्क्य ॥ ५॥

जनक ने पूछा कहा: हे याज्ञवल्क्य! आदित्य के अस्त होने पर, चन्द्रमा के अस्त होने पर और अग्नि के शान्त जाने पर यह पुरुष किस ज्योतिवाला होता है ?

याज्ञवल्क्य ने कहा: हे सम्राट्! 'उस समय वाणी ही इसकी ज्योति होती है। यह वाणी रूप ज्योति के द्वारा द्वारा ही बैठता, इधर-उधर जाता, कर्म करता और लौट आता है।

जनक ने कहा: हे याज्ञवल्क्य ! यह बात ऐसी ही है। ॥५॥

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्तमिते शान्तेऽग्नौ शान्तायां वाचि किञ्ज्योतिरेवायं पुरुष इत्यात्मैवास्य ज्योतिर्भवत्यात्मनैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीति ॥ ६॥

जनक ने पूछा कहा: हे याज्ञवल्क्य! आदित्य के अस्त होने पर, चन्द्रमा के अस्त होने पर और अग्नि के शान्त जाने पर तथा वाणी के भी शांत हो जाने पर यह पुरुष किस ज्योतिवाला होता है?

याज्ञवल्क्य ने कहा: हे सम्राट्! 'उस समय आत्मा ही इसकी ज्योति होती है। यह आत्मा रूप ज्योति के द्वारा द्वारा ही बैठता, इधर-उधर जाता, कर्म करता और लौट आता है। ॥६॥

कतम आत्मेति । योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः पुरुषस्स समानः सन्नुभौ लोकावनुसञ्चरति । ध्यायतीव लेलायतीव स हि स्वप्नो भूत्वेमं लोकमतिक्रामति मृत्यो रूपाणि ॥ ७॥

जनक ने पूछा कहा: हे याज्ञवल्क्य! आत्मा कौन है?

याज्ञवल्क्य ने कहा: यह जो प्राणों मे बुद्धिवृत्तियों के भीतर रहने वाला विज्ञानमय ज्योति:स्वरुप पुरुष है, वह समान बुद्धिवृतियों के सदृश्य इस लोक और परलोक दोनों मे घूमता है। वह बुद्धिवृतियों के अनुसार चिंतन करता है और प्राणवृत्ति के अनुसार चेष्टा करता है।

वही स्वप्न अवस्था में इस लोक और मृत्यु के रूपों से भी पार निकल जाता है। ॥६॥

स वा अयं पुरुषो जायमानः शरीरमभिसम्पद्यमानः पाप्मभिः
सꣳसृज्यते । स उत्क्रामन्म्रियमाणः पाप्मनो विजहाति ॥ ८॥

वह यह पुरुष जन्म लेते समय - शरीर धारण करता हुआ हुआ पापों से (देह और इन्द्रियों से) जुड़ जाता है तथा मरते समय – बाहर निकलते समय उन पापों को त्याग देता है। ॥८॥

तस्य वा एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवत इदं च परलोकस्थानं
च सन्ध्यं तृतीयꣳ स्वप्नस्थानं तस्मिन्सन्ध्ये स्थाने
तिष्ठन्नेते उभे स्थाने पश्यतीदं च परलोकस्थानं च अथ
यथाक्रमोऽयं परलोकस्थाने भवति तमाक्रममाक्रम्योभयान्पाप्मन
आनन्दाꣳश्च पश्यति । पश्यति स यत्र प्रस्वपित्यस्य लोकस्य
सर्वावतो मात्रामपादाय स्वयं विहत्य स्वयं निर्माय स्वेन भासा स्वेन
ज्योतिषा प्रस्वपित्यत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवति ॥ ९॥

उस इस पुरुष के दो ही स्थान हैं- पहला यह लोक और दूसरा परलोक, तीसरा मध्य स्थान स्वप्न स्थान है। उस मध्य स्थान में स्थित रह कर यह इस लोक और परलोक इन दोनों स्थानों को देखता है। यह पुरुष परलोक स्थान के लिये जैसे साधन से सम्पन्न होता है, उस साधन का आश्रय लेकर यह पाप अर्थात दुःख और आनन्द दोनों को ही देखता है। जिस समय यह सोता है, उस समय इस सर्वत्र विद्यमान लोक की मात्राओं अर्थात सूक्ष्म अंशों या इच्छाओं को लेकर, स्वयं ही

इस स्थूल शरीर को अचेत करके तथा स्वयं अपने वासना मय देह को रचकर, अपने प्रकाश से अर्थात् अपने ज्योतिःस्वरूप से शयन करता है। इस अवस्था में यह पुरुष स्वयं ज्योति स्वरूप होता है।[20] ॥ ९ ॥

न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ
रथान्रथयोगान्पथः सृजते । न तत्राऽऽनन्दा मुदः प्रमुदो
भवन्त्यथाऽऽनन्दान्मुदः प्रमुदः सृजते । न तत्र वेशान्ताः
पुष्करिण्यः स्रवन्त्यो भवन्त्यथ वेशान्तान्पुष्करिणीः स्रवन्तीः
सृजते स हि कर्ता ॥ १०॥

उस अवस्था में न रथ हैं, न रथ में जोते जानेवाले घोड़े इत्यादि हैं और न मार्ग ही हैं । परंतु वह रथ, रथ में जोते जानेवाले घोड़े इत्यादि और रथ के मार्गों की रचना कर लेता है। उस अवस्था में आनन्द, मोद और प्रमोद भी नहीं हैं, किंतु वह आनन्द, मोद और प्रमोद की भी रचना कर लेता है। वहाँ तालाब, सरोवर और नदियाँ नहीं हैं, परन्तु वह वह तालाब, सरोवर और नदियों की रचना कर्ता रूप मे कर लेता है ॥ १० ॥

तदेते श्लोका भवन्ति स्वप्नेन शारीरमभिप्रहत्या सुप्तः
सुप्तानभिचाकशीति । शुक्रमादाय पुनरैति स्थानꣳ हिरण्मयः
पुरुष एकहꣳसः ॥ ११॥

[20] जो कुछ जाग्रत अवस्था मे देखता है, उसी के स्वरुप को लेकर, स्वप्न की दुनिया को बना कर, उसको बाहर के प्रकाश से नहीं अपितु अपनी ही ज्योति से देखता है।

इस विषयमें ये श्लोक हैं। आत्मा स्वप्न के द्वारा शरीर को निश्चेष्ट कर स्वयं न सोता हुआ सोये हुए समस्त इन्द्रियों को प्रकाशित करता है। वह इन्द्रियों की ज्योति को लेकर पुनः जागृत अवस्था में आता है। वह स्वर्णमय ज्योति स्वरूप पुरुष अकेला ही दोनों स्थानों में जानेवाला है। ॥ ११ ॥

प्राणेन रक्षन्नपरं कुलायं बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा स
ईयतेऽमृतो यत्रकाम॰ हिरण्मयः पुरुष एकहं॰सः ॥ १२॥

इस निकृष्ट शरीर की प्राण से रक्षा करता हुआ वह अमृतधर्मा शरीर से बाहर घूमता है। वह अकेला घूमने वाला स्वर्णमय अमृत पुरुष जहाँ इच्छा होती है, वहाँ चला जाता है। ॥ १२ ॥

स्वप्नान्त उच्चावचमीयमानो रूपाणि देवः कुरुते बहूनि । उतेव
स्त्रीभिः सह मोदमानो जक्षदुतेवापि भयानि पश्यन् ॥ १३॥

वह देव स्वप्नावस्था में ऊँच-नीच भावों को प्राप्त होता हुआ बहुत-से रूप बना लेता है। इसी प्रकार वह भावना अनुसार स्त्रियों के साथ आनन्द मानता हुआ, मित्रों के साथ हँसता हुआ तथा भय के दृश्य देखता रहता है। ॥ १३ ॥

आराममस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चनेति । तं नाऽऽयतं
बोधयेदित्याहुः । दुर्भिषज्य॰ हास्मै भवति यमेष न
प्रतिपद्यते अथो खल्वाहुर्जागरितदेश एवास्यैष यानि ह्येव

जाग्रत् पश्यति तानि सुप्त इत्यत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवति ।
सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षाय ब्रूहीति ॥ १४॥

सब लोग उसके आराम के स्थान को ही देखते हैं, उस स्वयं प्रकाश पुरुष को कोई नहीं देखता। कुछ लोग कहते हैं कि उस सोये हुए आत्मा को अचानक नहीं जगाना चाहिए। जिस इन्द्रिय प्रदेश में यह सोया हुआ होता है, उसमें प्राप्त न होने से इसका शरीर दुखित हो जाता है। इसी प्रकार कई अन्य कहते हैं कि यह स्वप्न इसकी जागने के ही जगह है, क्योंकि जिन पदार्थों को यह जागने पर देखता है, उन्हीं को सोया हुआ भी देखता है किंतु यह ठीक नहीं है क्योंकि इस अवस्था में यह पुरुष स्वयं ज्योति स्वयं प्रकाश होता है। जनक ने कहा: मैं भगवन के लिए सहस्र मुद्रा देता हूँ, अब आगे मुझे मोक्ष के लिये उपदेश कीजिये। ॥१४॥

स वा एष एतस्मिन्सम्प्रसादे रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं
च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति स्वप्नायैव एव स
यत्तत्र किञ्चित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुष
इत्येवमेवैतद् याज्ञवल्क्य । सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत
ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीति ॥१५॥

याज्ञवल्क ने कहा: वह यह आत्मा इस सुषुप्ति में रमण और घूम कर पुण्य और पाप को केवल देखकर, जैसे आया था और जहाँ से आया था, पुनः स्वप्न स्थान को ही लौट आता है। वहाँ वह जो कुछ देखता है, उससे बंधता नहीं है। क्योंकि यह पुरुष असंग है । जनक ने कहा

– हे याज्ञवल्क्य ! यह बात ऐसी ही है, मैं भगवन के लिए सहस्र मुद्रा देता हूँ, अब आगे मुझे मोक्ष के लिये उपदेश कीजिये। ॥ १५॥

स वा एष एतस्मिन्स्वप्ने रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति बुद्धान्तायैव आद्रवति बुद्धान्ताय एव स यत्तत्र किञ्चित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुष इत्येवमेवैतद् याज्ञवल्क्य । सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीति ॥ १६॥

वह यह आत्मा इस स्वप्नावस्था में रमण और घूम कर तथा पुण्य और पाप को देखकर ही फिर जिस प्रकार आया था और जहाँ से आया था उस जागरित-स्थान को ही लौट जाता है; वह वहाँ जो कुछ देखता है, उससे बंधता नहीं है। क्योंकि यह पुरुष असंग है । जनक ने कहा – हे याज्ञवल्क्य ! यह बात ऐसी ही है, मैं भगवन के लिए सहस्र मुद्रा देता हूँ, अब आगे मुझे मोक्ष के लिये उपदेश कीजिये। ॥ १६ ॥

स वा एष एतस्मिन्बुद्धान्ते रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति स्वप्नान्तायैव ॥ १७॥ आद्रवति स्वप्नान्ताय एव

वह यह पुरुष इस जागृत अवस्था में रमण और घूम कर तथा पुण्य और पाप को देखकर फिर जिस प्रकार आया था उसी मार्ग से यथा स्थान स्वप्नस्थान को ही लौट जाता है। ॥ १७ ॥

तद्यथा महामत्स्य उभे कूलेऽनुसञ्चरति पूर्वं चापरं चैवमेवायं पुरुष एतावुभावन्तावनुसञ्चरति स्वप्नान्तं च बुद्धान्तं च ॥१८॥

जिस प्रकार कोई बड़ा भारी मत्स्य नदी के पूर्व और पश्चिम दोनों किनारों पर क्रमशः घूमता रहता है, उसी प्रकार यह पुरुष स्वप्न स्थान और जागृत स्थान इन दोनों ही स्थानों में क्रमश: घूमता रहता है। ॥१८॥

तद्यथास्मिन्नाऽकाशे श्येनो वा सुपर्णो वा विपरिपत्य श्रान्तः सꣳहत्य पक्षौ संलयायैव ध्रियत ध्रियते एवमेवायं पुरुष एतस्मा अन्ताय धावति यत्र सुप्तो न कं चन कामं कामयते न कं चन स्वप्नं पश्यति ॥ १९॥

जिस प्रकार इस आकाश में बाज अथवा गरुड़ आकाश में इधर उधर, थक जाने पर पंखों को फैलाकर घोंसले की ओर ही उड़ता है, इसी प्रकार यह पुरुष इस स्थान की ओर दौड़ता है, जहाँ गहरी नींद में सोने पर यह न तो किसी भोग की इच्छा करता है और न कोई स्वप्न ही देखता है ॥१९॥

ता वा अस्यैता हिता नाम नाड्यो यथा केशः सहस्रधा भिन्नस्तावताऽणिम्ना तिष्ठन्ति शुक्लस्य नीलस्य पिङ्गलस्य हरितस्य लोहितस्य पूर्णा । नीलस्य पिङ्गलस्य हरितस्य लोहितस्य पूर्णासथ यत्रैनं घ्नन्तीव जिनन्तीव हस्तीव विच्छाययति गर्तमिव पतति यदेव जाग्रद्भयं पश्यति तदत्राविद्यया मन्यतेऽथ यत्र देव इव राजेवाहमेवेदꣳसर्वोऽस्मीति मन्यते सोऽस्य परमो लोकाः ॥ २०॥

उसकी वे ये हिता नाम की नाडियाँ – इतनी सूक्ष्मता से शरीर में स्थित है, जितना कि बाल हजार द\टुकड़े किया हुआ हो। वह श्वेत, नीले, पीले हरे और लाल रंग के रस से भरी हुई हैं। जब वह इस पुरुष को मानो मारते हैं, मानो अपने वश में करते हैं और जहाँ मानो इसे हाथी खदेड़ता है अथवा जहाँ यह गड्ढे में गिरता है। इस प्रकार जो कुछ भी जाग्रत अवस्था के भय देखता है, उन्हें इस स्वप्नावस्था में अविद्या से मानता है और जहाँ यह देवता के समान, राजा के समान अथवा मैं ही यह सब हूँ-ऐसा मानता है, वह इसका परमधाम है। ॥२०॥

तद्वा अस्यैतदतिच्छन्दा अपहतपाप्माभयꣳ रूपम् । तद्यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किं चन वेद नाऽऽन्तरमेवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनाऽऽत्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किं चन वेद नाऽऽन्तरम् । सम्परिष्वक्तस्न बाह्यम् किम् चन वेद न अन्तरं तद्वा अस्यैतदाप्तकाममात्मकाममकामं रूपम् शोकान्तरम् ॥ २१॥

वह इसका कामरहित, पापरहित और अभय रूप है। व्यवहार में जिस प्रकार अपनी प्रिया भार्या को आलिंगन करने वाले पुरुष को न कुछ बाहरका ज्ञान रहता है और न भीतर का, इसी प्रकार यह पुरुष प्राज्ञात्मा से आलिंगित होने पर न कुछ बाहर का विषय जानता है और न भीतर का विषय जानता है। यह इसका आप्तकाम, आत्मकाम, अकाम और शोकशून्य रूप है। ॥२१॥

अत्र पिताऽपिता भवति माताऽमाता लोका अलोका देवा अदेवा वेदा अवेदा अत्र स्तेनोऽस्तेनो भवति भ्रूणहाऽभ्रूणहा चाण्डालोऽचण्डालः पौल्कसोऽपौल्कसो श्रमणोऽश्रमण स्तापसोऽतापसोऽनन्वागतं पुण्येनानन्वागतं पापेन अश्रमणस्तापससतापससनन्वागतस्पुण्येन अनन्वागतस्पापेन तीर्णो हि तदा सर्वाञ्छोकान्हृदयस्य भवति ॥२२॥

इस सुषुप्त अवस्था में पिता पिता नहीं रहता , माता माता नहीं रहती, लोक लोक नहीं रहते, देवता देवता नहीं रहते और वेद वेद नहीं रहते। यहाँ चोर चोर नहीं रहता , भ्रूणहत्या करनेवाला भ्रूणहत्या के पाप से मुक्त हो जाता है, तथा चाण्डाल चाण्डाल नहीं रहत , पौल्कस पोल्कस नहीं रहता, भिक्षु, भिक्षु नहीं रहता और तपस्वी तपस्वी नहीं रहता। उस समय यह पुरुष पुण्य से तथा पाप से भी असम्बद्ध होता है और हृदय के सम्पूर्ण शोकों को पार कर लेता है। ॥२२॥

यद्वै तन्न पश्यति पश्यन्वै तन्न पश्यति न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान् न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत् ॥ २३॥

वह जो नहीं देखता वह देखता हुआ ही भी नहीं देखता,; देखने वाले की दृष्टि का कभी लोप नहीं होता, क्योंकि वह अविनाशी है। उस समय उससे भिन्न कोई दूसरी वस्तु है ही नहीं, जिसे देखे। ॥ २३ ॥

यद्वै तन्न जिघ्रति जिघ्रन्वै तन्न जिघ्रति न हि घ्रातुर्घ्रातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान् न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यज्जिघ्रेत् ॥ २४॥

वह जो नहीं सूंघता सो सूंघता हुआ भी नहीं सूंघता । सूंघनेवाले की गन्ध ग्रहण शक्ति का सर्वथा लोप नहीं होता, क्योंकि वह अविनाशी है। उस अवस्था में उससे भिन्न कोई दूसरी वस्तु है ही नहीं, जिसे सूंघे। ॥ २४ ॥

यद्वै तन्न रसयते रसयन्वै तन्न रसयते न हि रसयितू
रसयितेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान् न तु तद्वितीयमस्ति
ततोऽन्यद्विभक्तं यद्रसयेत् ॥ २५॥

वह जो रसास्वाद नहीं करता सो रसास्वाद करता हुआ भी नहीं करता । रसास्वाद करनेवाले की रस ग्रहण शक्ति का सर्वथा लोप नहीं होता, क्योंकि वह अविनाशी है। उस अवस्था में उससे भिन्न कोई दूसरा पदार्थ है ही नहीं, जिसका रस ग्रहण करे। ॥२५॥

यद्वै तन्न वदति वदन्वै तन्न वदति न हि वक्तुर्वक्तेर्विपरिलोपो
विद्यतेऽविनाशित्वान् न तु तद्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्वदेत्
॥ २६॥

वह जो नहीं बोलता वह बोलता हुआ भी नहीं बोलता। वक्ता की वचन-शक्ति का सर्वथा लोप नहीं होता, क्योंकि वह अविनाशी है। उस अवस्था में उससे भिन्न दूसरा कुछ है ही नहीं, जिसके विषय में वह बोले।।२६ ।।

यद्वै तन्न शृणोति शृण्वन्वै तन्न शृणोति न हि श्रोतुः श्रुतेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान् न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यच्छृणुयात् ॥ २७॥

वह जो नहीं सुनता उसे सुनता हुआ भी नहीं सुनता। श्रोता की श्रवण शक्ति का सर्वथा लोप नहीं होता, क्योंकि वह अविनाशी है। उस अवस्था में उससे भिन्न दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं, जिसके विषय में वह सुने। ॥ २७ ॥

यद्वै तन्न मनुते मन्वानो वै तन्न मनुते न हि मन्तुर्मतेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान् न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यन्मन्वीत ॥ २८॥

वह जो मनन नहीं करता उसे मनन करता हुआ भी मनन नहीं करता । मनन करनेवाले की मननशक्ति का सर्वथा लोप नहीं होता, क्योंकि वह अविनाशी है। उस अवस्था में उससे भिन्न कोई दूसरी वस्तु है ही नहीं, जिसके विषय में वह मनन करे। ॥ २८ ॥

यद्वै तन्न स्पृशति स्पृशन्वै तन्न स्पृशति न हि स्प्रष्टुः स्पृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान् न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्स्पृशेत् ॥ २९॥

वह जो स्पर्श नहीं करता वह स्पर्श करता हुआ भी स्पर्श नहीं करता। स्पर्श करने वाले की स्पर्शशक्ति का सर्वथा लोप नहीं होता, क्योंकि

वह अविनाशी है। उस अवस्था में उससे भिन्न कोई दूसरा पदार्थ है ही नहीं, जिसे वह स्पर्श करे। ॥२९॥

यद्वै तन्न विजानाति विजानन्वै तन्न विजानाति न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान् न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्विजानीयात् ॥ ३०॥

वह जो नहीं जानता उसे नहीं जानता हुआ भी नहीं जानता। विज्ञाता की विज्ञाति (विज्ञान शक्ति) का सर्वथा लोप नहीं होता, क्योंकि वह अविनाशी है। उस अवस्था में उससे भिन्न कोई दूसरा पदार्थ ही नहीं होता, जिसे वह विशेष रूप से जाने। ॥३०॥

यत्र वा अन्यदिव स्यात् तत्रान्योऽन्यत्पश्येदन्योऽन्यज्जिघ्रेद् अन्योऽन्यद्रसयेदन्योऽन्यद्वदेदन्योऽन्यच्छृणुयादन्योऽन्यन्मन्वीता न्योऽन्यत्स्पृशेदन्योऽन्यद्विजानीयात् ॥ ३१॥

जहाँ जागृत या स्वप्न अवस्था में आत्मा से भिन्न अन्य-सा होता है वहाँ अन्य अन्य को देख सकता है, अन्य अन्य को सूंघ सकता है, अन्य अन्य को चख सकता है, अन्य अन्य को बोल सकता है, अन्य अन्य को सुन सकता है, अन्य अन्य का मनन कर सकता है, अन्य अन्य का स्पर्श कर सकता है, अन्य अन्य को जान सकता है। ॥ ३१ ॥

सलिल एको द्रष्टाद्वैतो भवत्येष ब्रह्मलोकः सम्राड् इति हैनमनुशशास याज्ञवल्क्य। एषास्य परमा गतिरेषास्य परमा सम्पद्

एषोऽस्य परमो लोक एषोऽस्य परम आनन्द
एतस्यैवाऽऽनन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति ॥ ३२॥

जैसे जल में, वैसे ही सुषुप्ति में एक अद्वैत द्रष्टा है । हे सम्राट्! यह ब्रह्मलोक है-ऐसा याज्ञवल्क्य ने जनक को उपदेश दिया । यह इस पुरुष की परमगति है, यह इसकी परम सम्पत्ति है, यह इसका परम लोक है, यह इसका परमानन्द है। इस आनन्द की मात्रा के आश्रित ही अन्य प्राणी जीवन धारण करते हैं। ॥३२॥

स यो मनूष्याणाꣳ राद्धः समृद्धो भवत्यन्येषामधिपतिः
सर्वैर्मानुष्यकैर्भोगैः सम्पन्नतमः अन्येषां सम्पन्नतमस्स
मनुष्याणां परम आनन्दोऽथ ये शतं मनुष्याणामानन्दाः स एकः
पितृणां जितलोकानामानन्दोऽथ ये शतं पितृणां
जितलोकानामानन्दाः स एको गन्धर्वलोक आनन्दोऽथ ये शतं
गन्धर्वलोक आनन्दाः स एकः कर्मदेवानामानन्दो ये कर्मणा
देवत्वमभिसम्पद्यन्तेऽथ ये शतं कर्मदेवानामानन्दाः स एक
आजानदेवानामानन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतोऽथ ये
शतमाजानदेवानामानन्दाः स एकः प्रजापतिलोक आनन्दो यश्च
श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतो अथ ये शतं प्रजापतिलोक आनन्दाः स
एको ब्रह्मलोक आनन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतोऽथैष एव
परम आनन्द एष ब्रह्मलोकः सम्राड् इति होवाच याज्ञवल्क्यः । सोऽहं
भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीत्यत्र ह याज्ञवल्क्यो
बिभयांचकारः मेधावी राजा सर्वेभ्यो माऽन्तेभ्य उदरौत्सीदिति ॥३३॥

वह जो मनुष्यों में सब अंगों से पूर्ण समृद्ध, दूसरों का अधिपति और मनुष्य सम्बन्धी सम्पूर्ण भोग सामग्रियों द्वारा सबसे अधिक सम्पन्न

होता है, वह मनुष्यों का परम आनन्द है। अब जो मनुष्यों के सौ आनन्द हैं, वह पितृ लोक को जीतनेवाले पितृगण का एक आनन्द है। और जो पितृलोक को जीतने वाले पितरों के सौ आनन्द हैं, वह गन्धर्व लोक का एक आनन्द है। तथा जो गन्धर्वलोक के सौ आनन्द हैं, वह कर्मदेवों का सौ आनन्द हैं, जो कि कर्म के द्वारा देवत्व को प्राप्त होते हैं, एक आनन्द है । जो कर्मदेवों के सौ आनन्द हैं, वह जन्मसिद्ध देवों का एक आनन्द है और जो निष्पाप, निष्काम श्रोत्रिय है उसका भी वह आनन्द है। जो जन्मसिद्ध देवों के सौ आनन्द हैं, वह प्रजापति लोक का एक आनन्द है और जो निष्पाप निष्काम श्रोत्रिय है उसका भी वह आनन्द है। जो प्रजापति लोक के सौ आनन्द हैं, वह ब्रह्मलोक का एक आनन्द है और जो निष्पाप निष्काम श्रोत्रिय है, उसका भी वह आनन्द है तथा यही परम आनन्द है। हे सम्राट ! यह ब्रह्मलोक है. ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा।

जनक ने कहा – हे याज्ञवल्क्य ! यह बात ऐसी ही है, मैं भगवन के लिए सहस्र मुद्रा देता हूँ, अब आगे मुझे मोक्ष के लिये उपदेश कीजिये। यह सुनकर याज्ञवल्क्य भी डर गये कि इस बुद्धिमान् राजा ने तो मुझे सम्पूर्ण प्रश्नों के निर्णयपर्यन्त उत्तर देने को विवश कर दिया है। ॥ ३३ ॥

स वा एष एतस्मिन्स्वप्नान्ते रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं
च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति बुद्धान्तायैव ॥ ३४॥

वह यह पुरुष इस स्वप्न की अवस्था में रमण और विहार कर तथा पुण्य और पाप को देखकर ही पुनः गये हुए मार्ग से ही यथास्थान जागृत अवस्था को ही लौट आता है। ॥ ३४ ॥

तद्यथाऽनः सुसमाहितमुत्सर्जद्यायादेवमेवायᳪ शारीर आत्मा प्राज्ञेनाऽऽत्मनाऽन्वारूढ उत्सर्जन्याति यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवति ॥ ३५॥ उत्सर्जम् याति यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवति ॥ ३५॥

जिस प्रकार बहुत अधिक बोझ लादा हुआ छकड़ा शब्द करता चलता है, उसी प्रकार यह शरीर वाला आत्मा प्राज्ञ आत्मा से अधिष्ठित हो शब्द करता हुआ जाता है, जब कि यह ऊर्वोच्छ्वास छोड़नेवाला हो जाता है। ॥३५॥

स यत्रायमणिमानं न्येति जरया वोपतपता वाऽणिमानं निगच्छति तद्यथाऽऽम्रं वोदुम्बरं वा पिप्पलं वा बन्धनात्प्रमुच्यत एवमेवायं पुरुष एभ्योऽङ्गेभ्यः सम्प्रमुच्य पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति प्राणायैव ॥ ३६॥

वह यह शरीर जिस समय कृशता को प्राप्त होता है, वृद्धावस्था अथवा ज्वरादि रोगके कारण कृश हो जाता है, उस समय यह पुरुष जैसे आम, गूलर अथवा पिप्पल-फल बन्धन से छूट जाता है, वैसे ही यह पुरुष इन अंगों से छूटकर फिर जिस मार्ग से आया था, वापस उसी स्थान में प्राण की विशेष अभिव्यक्ति के लिये ही चला जाता है। ॥३६॥

तद्यथा राजानमायन्तमुग्राः प्रत्येनसः सूतग्रामण्योऽन्नैः
पानैरवसथैः प्रतिकल्पन्ते अयमायात्ययमागच्छतीत्येवꣳ
हैवंविदꣳ सर्वाणि भूतानि प्रतिकल्पन्त इदं
ब्रह्माऽऽयातीदमागच्छतीति ॥ ३७॥

जिस प्रकार आते हुए राजा की उग्रकर्मा एवं पापकर्म में नियुक्त सूत और गाँव के नेता लोग अन्न, पान और निवासस्थान तैयार रखकर 'ये आये, ये आये' इस प्रकार कहते हुए प्रतीक्षा करते हैं, उसी प्रकार इस कर्मफल वेत्ता की सम्पूर्ण भूत 'यह ब्रह्म आता है, यह आता है। इस प्रकार कहते हुए प्रतीक्षा करते हैं। ॥३७॥

तद्यथा राजानं प्रयियासन्तमुग्राः प्रत्येनसः
सूतग्रामण्योऽभिसमायन्त्येवमेवेममात्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा
अभिसमायन्ति यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवति ॥ ३८॥

जिस प्रकार जाने के लिये तैयार हुए राजा के अभिमुख होकर उग्रकर्मा और पापकर्म में नियुक्त सूत एवं गाँव के नेता लोग जाते हैं, उसी प्रकार जब यह ऊर्वोच्छ्वास लेने लगता है तो अन्तकाल में सारे प्राण इस आत्मा के अभिमुख होकर इसके साथ जाते हैं। ॥ ३८ ॥

॥इति तृतीयं ब्राह्मणम्॥

॥तृतीय ब्राह्मण समाप्त॥

॥ श्री हरि ॥

॥बृहदारण्यकोपनिषद॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः - चतुर्थ ब्राह्मणम्

चतुर्थ ब्राह्मण

स यत्रायमात्माऽबल्यं न्येत्य सम्मोहमिव न्येत्यथैनमेते प्राणा
अभिसमायन्ति स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो
हृदयमेवान्ववक्रामति स यत्रैष चाक्षुषः पुरुषः
पराङ्पर्यावर्ततेऽथारूपज्ञो भवति ॥ १॥

वह यह आत्मा जिस समय दुर्बलता को प्राप्त हो मानो सम्मोह को प्राप्त हो जाता है, तब यह वाणी इत्यादि प्राण इक्कठे होकर इसके पास आते हैं। वह इन प्राणों के तेज अंशों को (इन्द्रियों को) अपने साथ भली प्रकार से लेकर हृदय में उतर जाता है। जिस समय यह चाक्षुष पुरुष[21] सभी ओर से बाहर वापस आ जाता है, उस समय वह रूपज्ञानहीन हो जाता है अर्थात किसी को नहीं पहचानता। ॥१॥

एकीभवति न पश्यतीत्याहुरेकीभवति न जिघ्रतीत्याहुरेकीभवति
न रसयतीत्याहुरेकीभवति न वदतीत्याहुरेकीभवति

---

[21] सूर्य का वह अंश जो आँख में है, जबकि आँख काम करती है और जो मरने के समय निकल कर सूर्य में जा मिलता । है

न शृणोतीत्याहुरेकीभवति न मनुत इत्याहुरेकीभवति न स्पृशतीत्याहुरेकीभवति न विजानातीत्याहुस्तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वाऽन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यस्तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तꣳ सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति । सविज्ञानो भवति सविज्ञानमेवान्ववक्रामति । तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च ॥ २॥

जब नेत्र-इन्द्रि आत्मा से एकरूप हो जाती है अर्थात आत्मा में ही समाहित हो जाती है और पृथक रूप से काम नहीं करती, तो लोग 'नहीं देखता' ऐसा कहते हैं । इसी प्रकार जब घ्राण इन्द्रि एक रूप हो जाती है, तो नहीं सूंघता' कहते हैं । रस इन्द्रिय एकरूप हो जाती है तो 'नहीं चखता' कहते हैं, वाणी इंद्री एकरूप हो जाती है तो नहीं बोलता' ऐसा कहते हैं। श्रोत्र इंद्री एकरूप हो जाती है तो 'नहीं सुनता' कहते हैं, मन एकरूप हो जाता है तो 'मनन नहीं करता' कहते हैं, त्वक्-इन्द्रि एकरूप हो जाती है तो स्पर्श नहीं करता' ऐसा कहते हैं और यदि बुद्धि आत्मा से एकरूप हो जाती है तो 'नहीं जानता' कहते हैं । उस समय इस हृदय का अग्र (बाहर जाने का मार्ग) अत्यन्त प्रकाशित होने लगता है, उसीसे यह आत्मा नेत्र से, सिर से अथवा शरीरके किसी अन्य अंग से बाहर निकलती है। उसके बाहर निकलने पर उसके साथ ही प्राण बाहर निकलते हैं, प्राण के बाहर निकलने पर करने पर सम्पूर्ण प्राण-इन्द्रियां बाहर निकलती हैं; उस समय यह आत्मा विशेष विज्ञानवान होता है और विज्ञानयु क्त प्रदेश को ही जाता है; उस समय उसके साथ-साथ ज्ञान, कर्म और पूर्व प्रज्ञा अर्थात पहले सीखी हुई विद्या भी जाते हैं। ॥ २ ॥

तद्यथा तृणजलायुका तृणस्यान्तं
गत्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसꣳहरत्येवमेवायमात्मेदꣳ
शरीरं निहत्याविद्यां
गमयित्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्याऽऽत्मानमुपसꣳहरति ॥ ३॥

जिस प्रकार जोंक एक तृण के अन्त में पहुँचकर दूसरे तृणरूप सहारे को पकड़कर अपने को खींच लेती है, इसी प्रकार यह आत्मा इस शरीर को छोड़ कर- अचेतन बना कर और किसी दूसरे का सहारा लेकर अपने आप आप को खींच लेती है॥ ३ ॥

तद्यथा पेशस्कारी पेशसो मात्रामपादायान्यन्नवतरं कल्याणतरꣳ
रूपं तनुत एवमेवायमात्मेदꣳ शरीरं निहत्याविद्यां
गमयित्वाऽन्यन्नवतरं कल्याणतरꣳ रूपं कुरुते पित्र्यं वा
गान्धर्वं वा दैवं वा प्राजापत्यं वा ब्राह्मं वाऽन्येषां वा भूतानाम् ॥४॥

जिस प्रकार सुनार सोने का भाग लेकर दूसरे नए और अधिक सुन्दर रूप की रचना करता है, उसी प्रकार यह आत्मा इस शरीरको नष्ट कर-अचेतन बना कर[22] दूसरे पितर, गन्धर्व, देव, प्रजापति, ब्रह्मा अथवा अन्य प्राणियों के नए और सुन्दर रूपों की रचना करता है ॥४॥

स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः

[22] अपने अपने ज्ञान, कर्म और पूर्व प्रज्ञा अनुसार

श्रोत्रमयः पृथिवीमय आपोमयो वायुमय
आकाशमयस्तेजोमयोऽतेजोमयः
काममयोऽकाममयः क्रोधमयोऽक्रोधमयो धर्ममयोऽधर्ममयः
सर्वमयस्श्रोत्रमयसाकाशमयस्वायुमयस्तेजोमय-
सापोमयस्पृथिवीमयस्क्रोधमयसक्रोधमय- शर्षमयसहर्षमयस्
तद्यदेतदिदम्मयोऽदोमय इति यथाकारी यथाचारी तथा भवति ।
साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति पुण्यः पुण्येन कर्मणा
भवति पापः पापेन । अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुष इति स
यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते
यत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते ॥ ५॥

वह आत्मा ब्रह्म, विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय, चक्षुर्मय, श्रोत्रमय, पृथिवीमय, जलमय, वायुमय, आकाशमय, तेजोमय, अतेजोमय, काममय, अकाममय, क्रोधमय, अक्रोधमय, धर्ममय, अधर्ममय और सर्वमय है। जो कुछ प्रत्यक्ष और परोक्ष है, वह वही है। वह जैसा कर्म करनेवाला और जैसे आचरण वाला होता है, वैसा ही हो जाता है। शुभ कर्म करने वाला शुभ होता है और पाप कर्म करने वाला पापी होता है। पुरुष पुण्यकर्म से पुण्यात्मा होता है और पाप कर्म से पापी होता है। कोई अन्य कहते हैं कि यह पुरुष काममय ही है, वह जैसी कामना करता होता है वैसा ही संकल्प लेता है, जैसा संकल्प लेता होता है वैसा ही कर्म करता है और जैसा कर्म करता है, वैसा ही फल प्राप्त करता है। ॥५॥

तदेष श्लोको भवति । तदेव सक्तः सह कर्मणैति लिङ्गं मनो
यत्र निषक्तमस्य । प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किञ्चेह करोत्ययम् ।

तस्माल्लोकात्पुनरैत्यस्मै लोकाय कर्मण् इति नु कामयमानोऽथाकामयमानो योऽकामो निष्काम भवति आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति ॥ ६॥

उस विषयमें यह मन्त्र है—इसका मन जिसमें अत्यन्त आसक्त होता है, उसी फल को यह कर्म के सहित प्राप्त करता है । इस लोक में यह जो कुछ कर्म करता है, उस कर्म का फल प्राप्तकर पुनः उस लोक से कर्म करने के लिये इस लोकमें आ जाता है। अवश्य ही कामना करनेवाला पुरुष ही ऐसा करता है। अब जो कामना न करनेवाला परुष है। उसके विषयमें कहते हैं --जो कामनाओं से रहित है, जो कामनाओं के चक्रव्यूह से बाहर निकल गया है, जिसकी कामनाएं पूर्ण हो गयी हैं और जो केवल अपनी आत्मा की ओर ही देखता है, उसके प्राणों और इन्द्रिय बाहर नहीं निकलते अर्थात निकल का दूसरा देह धारण नहीं करते, ; वह ब्रह्म ही बनकर ब्रह्म को प्राप्त होता है। ॥६॥

तदेष श्लोको भवति यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः । अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुत इति ॥ तद्यथाऽहिनिर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीतैवमेवेदꣳ शरीरꣳ शेतेऽथायमशरीरोऽमृतः प्राणो ब्रह्मैव तेज एव सोऽहं भगवते सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः ॥ ७॥

उसी अर्थमें यह मन्त्र है -जिस समय इसके हृदय में रहने वाली सम्पूर्ण कामनाओं का नाश हो जाता है तो फिर यह मृत्यु को प्राप्त होने वाला मनुष्य अमृत – अमर हो जाता है और इस शरीर में ही

उसे ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है। जिस प्रकार सर्प द्वारा त्यागी हुई केंचुली, बाँबी के ऊपर मृत अवस्था में पड़ी रहती है, उसी प्रकार यह शरीर पड़ा रहता है और यह शरीर रहित अमृत प्राण ब्रह्म ही है, तेज स्वरुप है। तब विदेहराज जनकने कहा, 'मैं जनक भगवन को सहस्र गौएँ देता हूँ' ॥७॥

तदेते श्लोका भवन्ति । अणुः पन्था विततः पुराणो माꣳ स्पृष्टोऽनुवित्तो मयैव । तेन धीरा अपियन्ति ब्रह्मविदः स्वर्गं लोकमित ऊर्ध्वं विमुक्ताः ॥ ८॥

उस विषयमें ये मन्त्र हैं -यह ज्ञानमार्ग सूक्ष्म, अत्यंत वृहद् और पुरातन है। वह मुझे स्पर्श किये हुए है और मैंने ही उसका फल साधक ज्ञान प्राप्त किया है। धीर ब्रह्मवेत्ता पुरुष इस लोक में जीते-जी ही मुक्त होकर शरीर-त्यागके बाद उसी मार्ग से स्वर्गलोक अर्थात् मोक्षको प्राप्त होते हैं। ॥८॥

तस्मिञ्छुक्लमुत नीलमाहुः पिङ्गलꣳ हरितं लोहितं च । एष पन्था ब्रह्मणा हानुवित्तस्तेनैति ब्रह्मवित्पुण्यकृत्तैजसश्च ॥ ९॥

उस मार्ग के विषय में मतभेद है। कोई उसे सफ़ेद अथवा नीले रंग का बताते है तथा कोई अन्य पीले रंग का, कोई कहते हैं वह हरे रंग है और कोई कहते हैं वह लाल रंग का है। किंतु यह मार्ग साक्षात् ब्रह्म द्वारा अनुभव किया गया है। उस मार्ग से पुण्य करनेवाला परमात्मतेजः स्वरूप ब्रह्म को जानने वाले ही जाते हैं। ॥९॥

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते । ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाꣳ रताः ॥ १०॥

जो अविद्या (कर्म) की उपासना करते हैं, वे अज्ञानसंज्ञक अन्धकार में प्रवेश करते हैं और जो विद्या कर्म काण्ड रूप त्रयीविद्या में संलग्न हैं, वह तो उनसे भी अधिक अन्धकार में प्रवेश करते हैं। ॥१०॥

अनन्दा नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः ताꣳस्ते प्रेत्याभिगच्छन्त्यविद्वाꣳसोऽबुधो जनाः ॥ ११॥

वह अमुख नाम के लोक गहरे अँधेरे से व्याप्त हैं, वह अविद्वान् और अज्ञानीलोग मर कर उन्हीं को प्राप्त होते हैं। ॥ ११ ॥

आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसञ्ज्वरेत् ॥ १२॥

यदि पुरुष आत्मा को 'मैं यह हूँ' इस प्रकार विशेष प्रकार से पहचान ले तो फिर क्या इच्छा करता हुआ और किस कामना से शरीर के पीछे संतप्त हो? ॥१२॥

यस्यानुवित्तः प्रतिबुद्ध आत्माऽस्मिन्सन्देह्ये गहने प्रविष्टः । स विश्वकृत् स हि सर्वस्य कर्ता तस्य लोकः स उ लोक एव ॥ १३॥

इस अनेकों अनर्थों से पूर्ण और विवेक विज्ञान के विरोधी दुर्गम शरीर में प्रविष्ट हुआ आत्मा जिस को प्राप्त और ज्ञात हो गया है, वही विश्वकृत् -संतुष्ट तथा प्रसन्न है। वही सबका कर्ता है, उसी का लोक है और स्वयं वही लोक भी है।॥१३॥

इहैव सन्तोऽथ विद्मस्तद्वयं न चेदवेदिर्महती विनष्टिः । ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियन्ति ॥ १४॥

हम इस शरीर में रहते हुए ही यदि उसे जान लेते हैं तो कृतार्थ हो गय, परन्तु यदि उसे नहीं जान पाए तो बड़ी हानि है। जो उसे जान लेते हैं, वह अमर हो जाते हैं; किंतु अन्य लोग तो दु:ख को ही प्राप्त होते हैं। ॥१४॥

यदैतमनुपश्यत्यात्मानं देवमञ्जसा । ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ॥ १५॥

जब भूत और भविष्य के स्वामी इस प्रकाशमान अथवा कर्मफल दाता आत्मा को मनुष्य साक्षात् जान लेता है तो यह उससे अपनी रक्षा करने की इच्छा नहीं करता। ॥१५॥

यस्मादर्वाक्संवत्सरोऽहोभिः परिवर्तते । तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम् ॥ १६॥

जिसके नीचे संवत्सर चक्र, दिन-रात आदि सभी घटकों के साथ चक्कर लगाता रहता है, उस सूर्य आदि ज्योतियों के ज्योति स्वरूप अमृत की देवगण आयु इस प्रकार उपासना करते हैं । ॥१६॥

यस्मिन्पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः । तमेव मन्य
आत्मानं विद्वान्ब्रह्मामृतोऽमृतम् ॥ १७॥

जिसमें पाँच पञ्चजन और आकाश भी प्रतिष्ठित है, उस आत्मा को ही मैं अमृत ब्रह्म मानता हूँ। उस ब्रह्म को जानने वाला मैं अमृत ही हूँ । ॥१७॥

प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो
ये मनो विदुः । ते निचिक्युर्ब्रह्म पुराणमग्र्यम् ॥ १८॥

जो उसे प्राण का प्राण, नेत्र का नेत्र, श्रोत्र का श्रोत्र तथा मन का मन जानते हैं वे उस पुरातन और सर्वप्रथम ब्रह्म को जानते हैं। ॥ १८ ॥

मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानाऽस्ति किं चन । मृत्योः स
मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥ १९॥

ब्रह्म को आचार्य के आदेश अनुसार मन से ही देखना चाहिये। इसमें नया कुछ भी नहीं है। जो उसको नए के समान देखता है, वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है। ॥१९॥

एकधैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमयं ध्रुवम् । विरजः पर आकाशादज
आत्मा महान्ध्रुवः ॥ २०॥

उस ब्रह्म को आचार्य के उपदेश के पश्च्यात एक प्रकार से ही देखना चाहिये। यह ब्रह्म अप्रमेय, ध्रुव, निर्मल, अव्याकृत रूप आकाशसे भी सूक्ष्म, अजन्मा, आत्मा, महान् और अविनाशी है ॥ २० ॥

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः ।
नानुध्यायाद्बहूञ्छब्दान् वाचो विग्लापनꣳ हि तदिति ॥ २१॥

बुद्धिमान् ब्राह्मण को उसे ही जानकर उसी में प्रज्ञा करनी चाहिये। बहुत शब्दों का अनुध्यान (निरन्तर चिन्तन) न करे; वह तो वाणीका श्रम ही है। ॥२१॥

स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु य
एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः
सर्वस्याधिपतिः स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयानेष
सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां

लोकानामसम्भेदाय । तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेनैतमेव विदित्वा मुनिर्भवत्यिविदित्वा मुनिस्भवति एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्त्येतद्ध स्म वै तत्पूर्वे विद्वाꣳसः प्रजां न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोक इति । ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा या वित्तैषणा सा लोकैषणोभे ह्येते एषणे एव भवतः । स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसङ्गो न हि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यत्येतमु हैवैते न तरत इत्यतः पापमकरवमित्यतः कल्याणमकरवमित्युभे उ हैवैष एते तरति नैनं कृताकृते तपतः ॥ २२॥

वह यह महान् अजन्मा आत्मा, जो कि यह प्राणों से घिरा हुआ है, जो यह हृदय के अन्दर आकाश में शयन करता है। वह सबको वशमें रखनेवाला, सबका शासन करनेवाला और सबका अधिपति है। वह शुभ कर्म से बढ़ता नहीं और अशुभ कर्म से छोटा नहीं होता। यह सबका ईश्वर है; यह प्राणियों का अधिपति और उनका पालन करनेवाला है। इन लोकों की मर्यादा भंग न हो-इस प्रयोजन से वह इनको धारण करनेवाला सेतु है। उपनिषदों में जिसके स्वरूप का दर्शन कराया गया है, उसी आत्मा को ब्राह्मण वेदों के स्वाध्याय, यज्ञ, दान और निष्काम तप के द्वारा जानने की इच्छा करते हैं। इसी को जानकर मुनि होता है। इस आत्मलोक की ही इच्छा करते हुए त्यागी पुरुष सब कुछ त्यागकर मुक्त हो जाते हैं संन्यासी हो जाते हैं। इस संन्यास में कारण यह है- पूर्ववर्ती विद्वान् संतान तथा सकाम कर्म

आदि की इच्छा नहीं करते थे। वह सोचते थे- हमें प्रजासे क्या लेना है? हमको हो यह यह आत्मलोक ही अभीष्ट है। अत: वे पुत्रों की इच्छा से, धन की इच्छा से और लोकों की इच्छा से ऊपर उठ कर भिक्षाचर्या करते थे। जो भी पुत्रों की इच्छा है, वही धन की इच्छा है और जो धन की इच्छा है, वही नवीन लोकों की इच्छा है। ये दोनों इच्छाएं ही हैं । वह आत्मा जिका 'नेति नेति' इस प्रकार निर्देश किया गया है

अगृह्य है, वह ग्रहण नहीं किया जाता,
अशीर्य है, उसका नाश नहीं होता,
असङ्ग है, वह कहीं आसक्त नहीं होता, बँधा नहीं है, इसलिये व्यथित नहीं होता तथा
अक्षय है उसका क्षय नहीं होता।

इस आत्मज्ञ को यह पाप-पुण्य सम्बन्धी शोक अथवा हर्ष दोनों ही प्राप्त नहीं होते। अत: इस कारण से मैंने पाप किया है और इस कारण से मैंने पुण्य किया है - इन दोनों अवस्थाओं से वह ऊपर उठ जाता है। इसे किया हुआ और किया हुआ नित्यकर्म फल प्रदान नहीं करता और न किया हुआ नित्य कर्म ताप नहीं देता। ॥२२॥

तदेतदृचाभ्युक्तम् । एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न वर्धते कर्मणा नो कनीयान् । तस्यैव स्यात् पदवित्तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेनेति । तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवाऽऽत्मानं पश्यति सर्वमात्मानं पश्यति नैनं पाप्मा

तरति सर्वं पाप्मानं तरति नैनं पाप्मा तपति सर्वं पाप्मानं तपति विपापो विरजोऽविचिकित्सो ब्राह्मणो भवति एष ब्रह्मलोकः सम्राड् इति होवाच याज्ञवल्क्यः । सोऽहं भगवते विदेहान्ददामि माम् चापि सह दास्यायेति ॥ २३॥

यही बात ऋचा द्वारा कही गयी है। यह नेति नेति से वर्णित महिमा - ब्रह्मवेत्ता की नित्य महिमा है, जो न शुभ कर्म से बढ़ती है और न पाप कर्म से घटती ही है। उस महिमा के ही स्वरूप को जाननेवाला होना चाहिये, उसे जानकर पापकर्म से लिप्त नहीं होता। अत: इस प्रकार जाननेवाला शान्त, दान्त, विरक्त, सहनशील और एकाग्र होकर आत्मा में ही आत्मा को देखता है, सभी को आत्मा देखता है। उसे पुण्य- पाप रूप पाप की प्राप्ति नहीं होती, यह सम्पूर्ण पापों को पार कर जाता है। इसे पाप ताप नहीं पहुँचाता, यह सारे पापोंको संतप्त करता है। यह पापरहित, निष्काम, नि:संशय ब्राह्मण हो जाता है। हे सम्राट् ! यह ब्रह्मलोक है, तुम इसमें पहुँचा दिये गये हो-ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा। तब जनकने कहा- भगवन! मैं आपको विदेह देश देता हूँ, साथ ही आपकी दासता (सेवा) करने के लिये अपने आप को भी समर्पित करता हूँ। ॥२३॥

स वा एष महानज आत्माऽन्नादो वसुदानो विन्दते वसु य एवं वेद ॥२४॥

वह महान् अजन्मा आत्मा अन्न भक्षण करनेवाला और कर्मफल देनेवाला है। जो ऐसा जानता है, उसे सम्पूर्ण कर्मों का फल प्राप्त होता है ॥ २४ ॥

स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्माभयं वै ब्रह्माभयꣳ हि वै ब्रह्म भवति य एवं वेद ॥ २५॥

वही महान् अजन्मा आत्मा, अजर, अमर, अमृत एवं अभय ब्रह्म है। अभय ही ब्रह्म है, जो ऐसा जानता है वह अभय ब्रह्म ही हो जाता है। ॥२५॥

॥इति चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

॥चतुर्थ ब्राह्मण समाप्त॥

॥ श्री हरि ॥

॥बृहदारण्यकोपनिषद॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः - पञ्चमं ब्राह्मणम्

पांचवां ब्राह्मण

अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये बभूवतुर्मैत्रेयी च कात्यायनी च तयोर्ह मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी बभूव स्त्रीप्रज्ञैव तर्हि कात्यायन्यथ ह याज्ञवल्क्योऽन्यद्वृत्तमुपाकरिष्यन् ॥ १॥

यह प्रसिद्ध है कि याज्ञवल्क्य की मैत्रेयी और कात्यायनी ये दो पत्नियाँ थीं। उनमें मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी थी और कात्यायनी तो स्त्रियों की-सी बुद्धिवाली ही थी। तब याज्ञवल्क्यने दूसरे प्रकारकी चर्या प्रारम्भ करनेकी इच्छा से कहा: ॥१॥

मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्यः प्रव्रजिष्यन्वा अरेऽहमस्मात्स्थानादस्मि । हन्त तेऽनया कत्यायान्याऽन्तं करवाणीति ॥ २॥

हे मैत्रेयि ! 'मैं इस स्थान (गार्हस्थ्यआश्रम) से अन्यत्र सब कुछ त्याग कर जानेवाला हूँ, अर्थात् संन्यास लेनेका विचार है। इसलिये मैं तेरी

अनुमति लेता हूँ और चाहता हूँ इस कात्यायनी के साथ तेरा बँटवारा कर दूँ। ॥ २॥

सा होवाच मैत्रेयी यन्नु म इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन
पूर्णा स्यात् स्यां न्वहं तेनामृताऽऽहो३ नेति नेति होवाच याज्ञवल्क्यो
यथैवोपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितꣳ स्यादमृतत्वस्य
तु नाऽऽशाऽस्ति वित्तेनेति ॥ ३॥

मैत्रेयी ने कहा: भगवन् ! यदि यह धन से सम्पन्न सारी पृथिवी भी मेरी हो जाय तो क्या मैं उससे अमर हो सकती हूँ, अथवा नहीं ?

याज्ञवल्क्य ने कहा: नहीं, भोग सामग्रियों से सम्पन्न मनुष्यों का जैसा जीवन होता है वैसा ही तेरा जीवन हो जायगा, धन से अमृतत्व की आशा तो की ही नहीं जा सकती । ॥३॥

सा होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम् । यदेव
भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहीति ॥ ४॥

मैत्रेयी ने कहा: जिससे मैं अमर नहीं हो सकती, उसे लेकर मैं क्या करूँगी? श्रीमान् जो कुछ अमृतत्व का साधन जानते हों, वही मुझे बताएं। ॥ ४॥

स होवाच याज्ञवल्क्यः प्रिया वै खलु नो भवती सती प्रियमवृधद्
धन्त तर्हि भवत्येतद् व्याख्यास्यामि ते व्याचक्षाणस्य तु मे

निदिध्यासस्वेति ॥ ५॥

याज्ञवल्वय ने कहा: निश्चय ही तू पहले भी हमारी प्रिया रही है और इस समय भी तूने हमारे प्रसन्नता को ही बढ़ाया है। अत: हे देवि! मैं प्रसन्नतापूर्वक तेरे प्रति इस अमृतत्व के साधन की व्याख्या करूँगा। तू मेरे व्याख्या किये हुए विषय का ध्यानपूर्वक चिन्तन करना। ॥५॥

स होवाच न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति । न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति । न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति । न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति ॥ न वा अरे पशूनां कामाय पशवः प्रिया भवन्ति आत्मनस्तु कामाय पशवः प्रिया भवन्ति । न वा अरे ब्रह्मणः कामाय ब्रह्म प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय ब्रह्म प्रियं भवति । न वा अरे क्षत्रस्य कामाय क्षत्रं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय क्षत्रं प्रियं भवति । न वा अरे लोकानां कामाय लोकाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति । न वा अरे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय देवाः प्रिया भवन्ति । न वा अरे वेदानां कामाय वेदाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय वेदाः प्रिया भवन्ति । न वा अरे भूतानां कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्त्यात्मनस्तु कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति । न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मावा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदꣳ सर्वं विदितम् । ॥६॥

याज्ञवल्क्य ने कहा: हे मैत्रेयी ! यह निश्चय है की पति के प्रयोजन के लिए पति प्रिय नहीं होता, अपने ही प्रयोजन के लिए पति प्रिय होता है। स्त्री के प्रयोजन के लिए स्त्री प्रिय नहीं होती, अपने ही प्रयोजन के लिए स्त्री प्रिय होती है। पुत्रों के प्रयोजन के लिये पुत्र प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजन के लिये पुत्र प्रिय होते हैं। धन के प्रयोजन के लिये धन प्रिय नहीं होता, अपने ही प्रयोजन के लिये धन प्रिय होता है। ब्राह्मण के प्रयोजन के लिये ब्रह्मण प्रिय नहीं होता, अपने ही प्रयोजन के लिये ब्राह्मण प्रिय होता हैं। क्षत्रिय के प्रयोजन के लिये क्षत्रिय प्रिय नहीं होता, अपने ही प्रयोजन के लिए क्षत्रिय प्रिय होता है। लोकों के प्रयोजन के लिये लोक प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजन के लिये लोक प्रिय होते हैं। देवताओं के प्रयोजन के लिये देवता प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजन के लिये देवता प्रिय होते है। प्राणियों के प्रयोजन के लिये प्राणी प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजन के लिये प्राणी प्रिय होते है। तथा सबके प्रयोजन के लिये सब प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजन के लिये सब प्रिय होते है। हे मैत्रेयी ! यह आत्मा ही दर्शनीय, श्रवणीय, मननीय और ध्यान किये जाने योग्य है। इस आत्मा के ही दर्शन, श्रवण, मनन और जानने से यह सब कुछ जाना जाता है। ॥६॥

ब्रह्म तं परादाद् योऽन्यत्राऽऽत्मनो ब्रह्म वेद क्षत्रं तं परादाद्
योऽन्यत्राऽऽत्मनः क्षत्रं वेद लोकास्तं परादुः योऽन्यत्राऽऽत्मनो
लोकान्वेद देवास्तं परादुः योऽन्यत्रात्मनो देवान्वेद वेदास्तं
परादुर्योऽन्यत्रात्मनो वेदान्वेद भूतानि तं परादुर्योऽन्यत्राऽऽत्मनो

भूतानि वेद सर्वं तं परादाद् योऽन्यत्राऽऽत्मनः सर्वं वेदेदं
ब्रह्मेदं क्षत्रमिमे लोका इमे देवा इमे वेदा इमानि भूतानीद१ँ सर्वं
यदयमात्मा ॥ ७॥

ब्राहाण जाति उसे परास्त कर देती है, जो ब्रह्म को आत्मा से भिन्न जानता है। क्षत्रिय जाति उसे परास्त कर देती है, जो क्षत्रिय जाति को आत्मा से भिन्न देखता है। लोक उसे परास्त कर देते है, जो लोकों को आत्मा से भिन्न देखता है। देवगण उसे परास्त कर देते हैं, जो देवताओं को आत्मा से भिन्न देखता है। भूतगण उसे परास्त कर देते है, जो भूतों को आत्मा से भिन्न देखता है। सभी प्राणधारी उसे परास्त कर देते हैं, जो सभी प्राणधारियों को आत्मा से भिन्न देखता है। यह ब्रह्म, यह क्षत्र, यह लोक, यह देवगण, यह भूतगण और यह सब जो कुछ भी है, सब आत्मा ही हैं। ॥७॥

स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद् ग्रहणाय
दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो गृहीतः ॥ ८॥

यह इस तरह है कि जिस प्रकार बजती हुई दुन्दुभि के बाह्य शब्दों को कोई पकड नहीं सकता, किंतु दुन्दुभि के आघात को पकड़ लेने से उसका शब्द भी पकड़ लिया जाता है । ॥ ८ ॥

स यथा शङ्खस्य ध्मायमानस्य न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद् ग्रहणाय
शङ्खस्य तु ग्रहणेन शङ्खध्मस्य वा शब्दो गृहीतः ॥ ९॥

यह ऐसा है, जैसे कोई बजाये जाते हुए शंख के बाह्म शब्दों को ग्रहण करने में समर्थ नहीं होता, कितु शंख को अथवा शंख के बजाने वाले को पकड़ लेने से उसका शब्द भी पकड़ लिया जाता है। ॥९॥

स यथा वीणायै वाद्यमानायै न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद्ग्रहणाय
वीणायै तु ग्रहणेन वीणावादस्य वा शब्दो गृहीतः ॥ १०॥

यह ऐसा है, जैसे कोई बजायी जाती हुई वीणा के बाह्य शब्दों को ग्रहण प्राण काने में समर्थ नहीं होता; किंतु वीणा अथवा वीणा को बजाने वाले को पकड़ लेने पर उस शब्द को भी पकड़ लिया जाता है। ॥ १० ॥

स यथाऽऽर्द्रैधाग्नेरभ्याहितस्य पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं
वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः
सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः
सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानि इष्टꣳ हुतमाशितं पायितमयं
च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतान्यस्यैवैतानि सर्वाणि
निःश्वसितानि ॥ ११॥

वह ऐसा है, जिस प्रकार गीले ईंधन से प्रदीप्त अग्नि से अलग धुंए के बादल निकलते हैं। हे मैत्रेयी! इसी प्रकार यह जो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद, श्लोक, सूत्र,

मन्त्रविवरण और अर्थवाद हैं, वह सब इस परमात्मा के ही नि:श्वास हैं। ॥ ११ ॥

स यथा सर्वासामपाꣳ समुद्र एकायनमेवꣳ सर्वेषाꣳ
स्पर्शानां त्वगेकायनमेवꣳ सर्वेषां गन्धानां नासिकैकायनं
एवꣳ सर्वेषाꣳ रसानां जिह्वैकायनमेवꣳ सर्वेषाꣳ
रूपाणां चक्षुरेकायनमेवꣳ सर्वेषं शब्दानां श्रोत्रमेकायनं
एवꣳ सर्वेषाꣳ सङ्कल्पानां मन एकायनमेवꣳ सर्वासां
विद्यानाꣳ हृदयमेकायनमेवꣳ सर्वेषां कर्मणाꣳ
हस्तावेकायनमेवꣳ सर्वेषामानन्दानामुपस्थ एकायनमेवꣳ
सर्वेषां विसर्गाणां पायुरेकायनमेवꣳ सर्वेषामध्वनां
पादावेकायनमेवꣳ सर्वेषां वेदानां वागेकायनम् ॥ १२॥

यह ऐसा है, जैसे समस्त जलों का समुद्र एक अयन (आश्रय स्थान) है, इसी प्रकार समस्त स्पर्शों का त्वचा एक अयन है, इसी प्रकार समस्त गन्धों की दोनों नासिकाएँ एक अयन है, इसी प्रकार समस्त रसों की जिह्वा एक अयन है, इसी प्रकार समस्त रूपों का चक्षु एक अयन है, इसी प्रकार समस्त शब्दों का श्रोत एक अयन है, डसी प्रकार समस्त संकल्पों का मन एक अयन है, इसी प्रकार समस्त विद्याओं का हृदय एक अयन है, इसी प्रकार समस्त कर्मों का हस्त एक अयन है, इसी प्रकार समस्त आनंदों का उपस्थ एक अयन है और इसी प्रकार समस्त विसर्गों का पायु एक अयन है, इसी प्रकार समस्त मार्गों का चरण एक अयन है और इसी प्रकार समस्त वेदों का वाणी एक अयन है। ॥१२॥

स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवै वं
वा अरेऽयमात्मानन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एवैतेभ्यो
भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनयष्यतिति प्रज्ञानघनसेव
एतेभ्यस्भूतेभ्यस्समुत्थाय तानि एव अनुविनयति न प्रेत्य
सञ्ज्ञाऽस्तीत्यरे ब्रवीमीति होवाच याज्ञवल्क्यः ॥ १३॥

यह ऐसा है, जैसे जल में डाला हुआ नमक का टुकड़ा जल में ही घुल मिल जाता है, उसे किसी भी प्रकार जल से प्रथक नहीं निकाला जा सकता। चाहे जहाँ से भी जल लिया जाए वह नमकीन ही जान पड़ता है, हे मैत्रेयी! उसी प्रकार यह परमात्मत्तत्त्व अनन्त; अपार और विज्ञानघन ही हैं। यह इन भूतों से प्रकट होकर, इन्ही के साथ नाश को प्राप्त हो जाता है। देह-इन्द्रिय भाव से मुक्त होने पर इसकी कोई विशेष संज्ञा नहीं रहती। हे मैत्रेयी! ऐसा मैं तुझसे कहता हूँ - ऐसा याज्ञवल्क ने कहा।॥ १३ ॥

सा होवाच मैत्रेय्यत्रैव मा भगवान्मोहान्तमापीपिपन् न वा अहमिमं
विजानामीति स होवाच न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यविनाशी वा
अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा ॥ १४॥

मैत्रेयी ने कहा: 'मृत्यु के उपरांत कोई संज्ञा नहीं रहती ऐसा कहकर ही श्रीमान ने मुझे मोह में डाल दिया है। याज्ञवल्क्यने कहा, हे मैत्रेयी! मैं मोह का उपदेश नहीं कर रहा हूँ, हे मैत्रेयी! आत्मा निश्चय ही अविनाशी और अनुच्छेदरूप धर्मवाला है। ॥१४॥

यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति तदितर इतरं जिघ्रति तदितर इतर९ रसयते तदितर इतरमभिवदति तदितर इतर९ शृणोति तदितर इतरं मनुते तदितर इतर९ स्पृशति तदितर इतरं विजानाति । यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत् तत्केन कं जिघ्रेत् तत्केन क९ रसयेत् तत्केन कमभिवदेत् तत्केन क९ शृणुयात् तत्केन कं मन्वीत तत्केन क९ स्पृशेत् तत्केन कं विजानीयाद्येनेद९ सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात् स एष नेति नेत्याऽत्मागृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यते ऽसङ्गो न हि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यति । विज्ञातारमरे केन विजानीयादित्युक्तानुशासनासि मैत्रेय्येतावदरे खल्वमृतत्वमिति होक्त्वा याज्ञवल्क्यो विजहार ॥ १५॥

जहाँ अविद्यावस्था में द्वैत सा होता है, वहीं अन्य अन्य को सूंघता है, वही अन्य अन्य को देखता है, अन्य अन्य को सुनता है, अन्य अन्य का अभिवादन करता है, अन्य अन्य का मनन करता है तथा अन्य अन्य को जानता है। किंतु जहाँ इसके लिये सब आत्मा ही हो गया है वहाँ किसके द्वारा किसे सूंघे, किसके द्वारा किसे देखे, किसके द्वारा किसे सुने, किसके द्वारा किसका अभिवादन करे, किसके द्वारा किसका मनन करे और किसके द्वारा किसे जाने? जिसके द्वारा इस सबको जानता है, उसे किसके द्वारा जाने ? हे मैत्रेयी ! जानने वाले को किसके द्वारा जाने ?

जिसके द्वारा पुरुष इन सबको जानता है, उसे किस साधनसे जाने? वह यह 'नेति नेति' इस प्रकार निर्देश किया गया आत्मा अगृह्य है-

उसका ग्रहण नहीं किया जाता, अशीर्य है-उसका विनाश नहीं होता, असङ्ग है-आसक्त नहीं होता, अबद्ध है-वह व्यथित और क्षीण नहीं होता। हे मैत्रेयि ! विज्ञाताको किसके द्वारा जाने ? इस प्रकार तुझे उपदेश कर दिया गया। हे मैत्रेयि ! निश्चय जान, इतना ही अमृतत्व है, ऐसा कहकर याज्ञवल्क्य जी परिव्राजक (संन्यासी) हो गये।॥१२॥

॥ इति पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥

॥पांचवां ब्राह्मण समाप्त॥

॥ श्री हरि ॥

॥बृहदारण्यकोपनिषद॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः - षष्ठं ब्राह्मणम्

छठा ब्राह्मण

अथ वꣳशः पौतिमाष्यो गौपवनाद् गौपवनः पौतिमाष्यात्
पौतिमाष्यो गौपवनाद् गौपवनः कौशिकात् कौशिकः कौण्डिन्यात्
कौण्डिन्यः शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यः कौशिकाच्च गौतमाच्च गौतमः
॥१॥

अब याज्ञवल्कीय काण्ड का वंश बतलाया जाता है—पौतिमाय ने गौपवन से, गौपवन ने पौतिमाष्य से, पौतिमाष्य ने गौपवन से, गौपवन ने कौशिक से, कौशिक ने कौण्डिन्य से, कौण्डिन्य ने शाण्डिल्य से, शाण्डिल्य ने कौशिक से और गौतम से तथा गौतम ने। ॥ १ ॥

आग्निवेश्यादग्निवेश्यो गार्ग्याद् गार्ग्यो गार्ग्याद् गार्ग्यो गौतमाद् गौतमः
सैतवात् सैतवः पाराशर्यायणात् पाराशार्यायणो गार्ग्यायणाद्
गार्ग्यायण उद्दालकायनादुद्दालकायनो जाबालायनाज् जाबालायनो
माध्यन्दिनायनान् माध्यन्दिनायनः सौकरायणात् सौकरायणः

काषायणात् काषायणः सायकायनात् सायकायनः कौशिकायनेः कौशिकायनिः ॥ २॥

आग्निवेश्य से, आग्निवेश्य ने गार्ग्य से, गाये ने गार्ग्य से, गार्य ने गौतम से, गौतम ने सैतव से, सैतव ने पाराशर्यायण से, पारा शर्यायण ने गाायण से, गाायण ने उद्दालका यनसे, उद्दालकायन ने जाबालायन से, जाबालायन ने माध्यन्दिनायन से, माध्यन्दिनायन ने सोकरायण से, सौकरायण ने काषायण से, काषायण ने सायकायन से, सायकायन ने कौशिकायनि से, कौशिकायनि ने। ॥ २ ॥

`

घृतकौशिकाद् घृतकौशिकः पाराशर्यायणात् पाराशर्यायणः पाराशर्यात् पाराशर्यो जातूकर्ण्याज् जातूकर्ण्य आसुरायणाच्च यास्काच्चाऽऽसुरायणस्त्रैवणेस्त्रैवणिरौपजन्धनेरौपजन्धनिरासुरेरासुरि र्भारद्वाजाद् भारद्वाज आत्रेयादात्रेयो माण्टेर्माण्टिर्गौतमाद् गौतमो गौतमाद् गौतमो वात्स्याद् वात्स्यः शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यः कैशोर्यात्काप्यात् कैशोर्यः काप्यः कुमारहारितात् कुमारहारितो गालवाद् गालवो विदर्भीकौण्डिन्याद् विदर्भीकौण्डिन्यो वत्सनपातो बाभ्रवाद् वत्सनपाद्बाभ्रव पथः सौभरात् पन्थाः सौभरोऽयास्यादाङ्गिरसादयास्य आङ्गिरस आभूतेस्त्वाष्ट्रादाभूतिस्त्वाष्ट्रो विश्वरूपात्त्वाष्ट्राद् विश्वरूपस्त्वाष्ट्रोऽश्विभ्यामश्विनौ दधीच आथर्वणाद् दध्यङ्ङाथर्वणोऽथर्वणो दैवादथर्वा दैवो मृत्योः प्राध्वꣳसनान् मृत्युः प्राध्वꣳसनः प्रध्वꣳसनात् प्रध्वꣳसन एकर्षेरेकर्षिर्विप्रचित्तेः विप्रचित्तिर्व्यष्टेर्व्यष्टिः सनारोः सनारुः सनातनात् सनातनः सनगात् सनगः परमेष्ठिनः परमेष्ठी ब्रह्मणो ब्रह्म स्वयम्भु ब्रह्मणे नमः ॥ ३॥

घृतकौशिक से, घृतकौशिकने पाराशर्यायण से, पाराशर्यायण ने पाराशर्य से, पाराशर्य ने जातूकर्ण्य से, जातूकर्ण्य ने आसुरायण से और यास्क से, आसुरायण ने त्रैवणि से, त्रैवणि ने औपजन्वनि से, औपजन्धनि ने आसुरि से, आसुरि ने भारद्वाज से, भारद्वाज ने आत्रेयले, आत्रेय ने माण्टि से, माण्टि ने गौतम से, गौतम ने गौतम से, गौतम ने वात्स्य से, वात्स्य ने शाण्डिल्य से, शाण्डिल्य ने कैशोर्य काप्य से, कैशोर्य काप्य ने कुमारहारित से, कुमारहारित ने गालव से, गालब ने विदर्भाकौण्डिन्य से, विदर्भीकौण्डिन्य ने वत्सनपाद् बाभ्रव से, वत्सनपाद् बाभ्रव ने पन्था सौभर से, पन्था सौभर ने अयास्य आङ्गिरस से, अयास्य आङ्गिरस ने आभूति त्वाष्ट्र से, आभूति त्वाष्ट्र ने विश्वरूप त्वाष्ट्र से, विश्वरूप वाष्ट्र ने अश्विनीकुमारों से, अश्विनीकुमारों ने दध्यङ्ङाथर्वण से, दध्यङ्ङाथर्वण ने अथर्वा देव से, अथर्वा देव ने मृत्यु प्राध्वंसन से, मृत्यु प्राध्वंसन ने प्रध्वंसन से, प्रध्वंसन ने एकर्षि से, एकर्षि ने विप्रचित्ति से, विप्रचित्ति ने व्यष्टि से, व्यष्टि ने सनारु से , सनारु ने सनातन से, सनातन ने सनग से, सनग ने परमेष्ठी से, परमेष्ठी ने ब्रह्मा से यह विद्या प्राप्त की। ब्रह्म स्वयम्भू है, ब्रह्म को नमस्कार है। ॥३॥

॥ इति षष्ठं ब्राह्मणम् ॥

॥पांचवां ब्राह्मण समाप्त॥

॥ इति बृहदारण्यकोपनिषदि चतुर्थोऽध्यायः ॥

॥ बृहदारण्य उपनिषद का चौथा अध्याय समाप्त ॥

श्री हरि ॥

॥बृहदारण्यकोपनिषद॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः - प्रथमं ब्राह्मणम्

पांचवां अध्याय

प्रथम ब्राह्मण

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते । ॐ३ खं ब्रह्म खं पुराणं वायुरं खमिति ह स्माऽऽह कौरव्यायणीपुत्रो । वेदोऽयम् ब्राह्मणा विदुर्वेदैनेन यद्वेदितव्यम् ॥ १॥

वह परब्रह्म पूर्ण है और वह जगत ब्रह्म भी पूर्ण है, पूर्णता से ही पूर्ण उत्पन्न होता है। यह कार्यात्मक पूर्ण कारणात्मक पूर्ण से ही उत्पन्न होता है। उस पूर्ण की पूर्णता को लेकर यह पूर्ण ही शेष रहता है।

ॐ आकाश ब्रह्म है । आकाश सनातन है। जिसमें वायु रहता है, वह आकाश ही है - ऐसा कौरव्यायणी के पुत्र ने कहा है। यह ओंकार वेद है-ऐसा ब्राह्मण जानते हैं, क्योंकि जो ज्ञातव्य है, उसका इससे ज्ञान होता है। ॥१॥

॥ इति प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

॥ प्रथम ब्राह्मण समाप्त ॥

॥ श्री हरि ॥

॥बृहदारण्यकोपनिषद॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः - द्वितीयं ब्राह्मणम्

द्वितीय ब्राह्मण

त्रयाः प्राजापत्याः प्रजापतौ पितरि ब्रह्मचर्यमूषुर्देवा मनुष्या असुरा उषित्वा ब्रह्मचर्यं देवा ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति । तेभ्यो हैतदक्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा३ इति । व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दाम्यतेति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति ॥ १॥

देव, मनुष्य और असुर-इन प्रजापति के तीन पुत्रोंने पिता प्रजापति के यहाँ ब्रह्मचर्यवास किया। ब्रह्मचर्यवास कर चुकने पर देवों ने कहा, 'आप हमें उपदेश कीजिये।' उनसे प्रजापतिने 'द' यह अक्षर कहा और पूछा 'समझ गये क्या ?' इसपर उन्होंने कहा, 'समझ गये, आपने हमसे दमन करो ऐसा कहा है। तब प्रजापति ने कहा, 'ठीक है, तुम समझ गये ॥१॥

अथ हैनं मनुष्या ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति । तेभ्यो हैतदेवाक्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा३ इति । व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दत्तेति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति ॥ २॥

फिर प्रजापति से मनुष्यों ने कहा, ‘आप हमें उपदेश कीजिये ।’ प्रजापति ने उनसे भी ‘द’ अक्षर कहा और पूछा ‘समझ गए क्या ?’ इस पर उन्होंने कहा, ‘समझ गये, आपने हमसे दान करो ऐसा कहा है ।’ तब प्रजापति ने कहा, ‘ठीक है, तुम समझ गये’ ॥२॥

अथ हैनमसुरा ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति । तेभ्यो हैतदेवाक्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा३ इति । व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दयध्वमिति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति । तदेतदेवैषा दैवी वागनुवदति स्तनयित्नुर्द द द इति दाम्यत दत्त दयध्वमिति । तदेतत्त्रयꣳ शिक्षेद् दमं दानं दयामिति ॥ ३॥

फिर प्रजापति से असुरोंने कहा, 'आप हमें उपदेश कीजिये।' उनसे भी प्रजापतिने 'द' यह अक्षर ही कहा और पूछा, 'समझ गये हो क्या?' असुरोंने कहा, 'समझ गये, आपने हमसे 'दया करो' ऐसा कहा है।' तब प्रजापति ने 'हाँ, समझ गये' ऐसा कहा। उस इस प्रजापतिके अनुशासन का मेघगर्जनारूपी दैवी वाक् आज भी द द द इस प्रकार अनुवाद करती है, अर्थात् दमन करो, दान दो, दया करो। अत: दम, दान और दया-इन तीनों को सीखना चाहिए। ॥३॥

॥ इति द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

॥ द्वितीय ब्राह्मण समाप्त ॥

॥ श्री हरि ॥

॥बृहदारण्यकोपनिषद॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः - तृतीयं ब्राह्मणम्

तृतीय ब्राह्मण

एष प्रजापतिर्यद्धृदयमेतद्ब्रह्मैतत्सर्वम् । तदेतत्र्यक्षरꣳ हृदयमिति । हृ इत्येकमक्षरमभिहरन्त्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद । द इत्येकमक्षरं ददत्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद । यमित्येकमक्षरमेति स्वर्गं लोकं य एवं वेद ॥ १॥

जो हृदय है, वह प्रजापति है। यह ब्रह्म है, यह सर्व है, यह हृदय तीन अक्षरवाला नाम है। 'ह' यह एक अक्षर है। जो ऐसा जानता है, उसके प्रति स्वजन और अन्य जन भेंट समर्पित करते हैं। 'द' यह एक अक्षर है। जो ऐसा जानता है, उसे स्वजन और अन्य जन देते हैं। 'यम्' यह एक अक्षर है। जो ऐसा जानता है, वह स्वर्गलोक को जाता है।॥१॥

॥ इति तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

॥ तृतीय ब्राह्मण समाप्त ॥

॥ श्री हरि ॥

॥बृहदारण्यकोपनिषद॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः - चतुर्थं ब्राह्मणम्

चौथा ब्राह्मण

तद्वै तदेतदेव तदास सत्यमेव । स यो हैतं महद्यक्षं
प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मेति जयतीमाꣳल्लोकाञ् जित इन्न्वसावसद्
य एवमेतन्महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मेति सत्यꣳ
ह्येव ब्रह्म ॥ १॥

यह हृदय निसंदेह वही है को सत्य रुपी ब्रह्म। जो भी इस महत्, पूजनीय, सर्व प्रथम उत्पन्न हुए को 'यह सत्य ब्रह्म है' ऐसा जानता है, वह इन लोकों को जीत लेता है।उसका शत्रु उसके अधीन हो जाता है -असत् (अभावभूत) हो जाता है। जो इस प्रकार इस महत्, पूजनीय, सर्व प्रथम उत्पन्न हुए को 'सत्य ब्रह्म'-इस प्रकार जानता है उसे उपर्युक्त फल मिलता है, क्योंकि ब्रह्म सत्य ही है॥१॥

॥ इति चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

॥ चौथा ब्राह्मण समाप्त ॥

॥ श्री हरि ॥

॥बृहदारण्यकोपनिषद॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः – पंचमं ब्राह्मणम्

पांचवां ब्राह्मण

अप एवेदमग्र आसुस्ता आपः सत्यमसृजन्त सत्यं ब्रह्म
ब्रह्म प्रजापतिं प्रजापतिर्देवाꣳस्ते देवाः सत्यमेवोपासते
तदेतत्र्यक्षरꣳ सत्यमिति । स इत्येकमक्षरं तीत्येकमक्षरं
यमित्येकमक्षरम् । प्रथमोत्तमे अक्षरे सत्यं मध्यतोऽनृतं
तदेतदनृतमुभयतः सत्येन परिगृहीतꣳ सत्यभूयमेव भवति ।
नैनंविद्वाꣳसमनृतꣳ हिनस्ति ॥ १॥

प्रारंभ में यह व्यक्त जगत् पहले जल ही था। उस जल ने सत्य को प्रकट किया, अतः सत्य ब्रह्म है। ब्रह्म ने प्रजापति (विराट) को और प्रजापति ने देवताओं को उत्पन्न किया। वे देवगण सत्य की ही उपासना करते हैं। वह यह 'सत्य' तीन अक्षरवाला नाम है। 'स' यह एक अक्षर है, 'ती' यह एक अक्षर है और 'यम्' यह एक अक्षर है। इनमें प्रथम और अन्तिम अक्षर सत्य है और मध्य का अनृत अर्थात झूठ है। यह झूठ दोनों ओर से सत्य से परिगृहीत है। इसलिये यह सत्य जैसा ही है। इस प्रकार जाननेवाले की झूठ हिंसा नहीं करता अर्थात उसे नहीं मारता। ॥१॥

तद्यत्तत्सत्यमसौ स आदित्यो । य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो
यश्चायं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषस्तावेतावन्योऽन्यस्मिन्प्रतिष्ठितौ
रश्मिभिरेषोऽस्मिन्प्रतिष्ठितः प्राणैरयममुष्मिन् स
यदोत्क्रमिष्यन्भवति शुद्धमेवैतन्मण्डलं पश्यति नैनमेते
रश्मयः प्रत्यायन्ति ॥ २॥

वह जो सत्य है. वही सूर्य है है। जो इस ऊरी मंडल में पुरुष है और जो भी यह दक्षिण नेत्र में पुरुष है, वह दोनों पुरुष एक-दूसरे में प्रतिष्ठित हैं। यह सूर्य अपनी किरणों के द्वारा इस चाक्षुष पुरुष में रहता है और चाक्षुष पुरुष प्राणों के द्वारा उसमें रहता है । जिस समय यह चाक्षुष पुरुष इस शरीर से बाहर निकलने लगता है तब केवल शुद्ध किरणों से खाली मंडल को ही देखता है। फिर ये रश्मियाँ इसके पास वापस नहीं आतीं। ॥२॥

य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषस्तस्य भूरिति शिर एकꣳ शिर
एकमेतदक्षरं भुव इति बाहू द्वौ बाहू द्वे एते अक्षरे स्वरिति
प्रतिष्ठा द्वे प्रतिष्ठे द्वे एते अक्षरे । तस्योपनिषदहरिति ।
हन्ति पाप्मानं जहाति च य एवं वेद ॥ ३॥

इस मण्डल में जो यह पुरुष है, उसका 'भू:' यह सिर है, सिर एक है और यह अक्षर भी एक है। 'भुवः' यह भुजा है, भुजाएँ दो हैं और ये अक्षर भी दो हैं। 'स्व:' यह प्रतिष्ठा चरण) है, चरण दो हैं और ये अक्षर भी दो हैं। 'अहम्' यह उसका उपनिषद् अर्थात गूढ़ नाम है। जो ऐसा जानता है, वह पाप को नष्ट करता है और त्याग देता है।॥ ३ ॥

योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्तस्य भूरिति शिरः एकꣳ शिर
एकमेतदक्षरं भुव इति बाहू द्वौ बाहू द्वे एते अक्षरे स्वरिति
प्रतिष्ठा द्वे प्रतिष्ठे द्वे एते अक्षरे । तस्योपनिषदहमिति ।
हन्ति पाप्मानं जहाति च य एवं वेद ॥ ४॥

जो दक्षिण नेत्र में पुरुष है, उसका 'भूः' यह सिर हैं; सिर एक है और यह अक्षर भी एक है। 'भुवः' यह भुजा है, भुजाएँ दो हैं और ये अक्षर भी दो हैं। स्वः यह चरण है, चरण दो हैं और ये अक्षर भी दो हैं। ॥४॥

॥ इति पंचमं ब्राह्मणम् ॥

॥ पांचवां ब्राह्मण समाप्त ॥

॥ श्री हरि ॥

॥बृहदारण्यकोपनिषद॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः – षष्ठं ब्राह्मणम्

छठा ब्राह्मण

मनोमयोऽयं पुरुषो भाःसत्यस्तस्मिन्नन्तर्हृदये यथा व्रीहिर्वा यवो वा स एष सर्वस्य सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किञ्च ॥ १॥

मनोमय मन का अधिष्ठाता यह पुरुष प्रकाश प्रकाशस्वरूप है जो हृदय के अन्दर धान अथवा जों की भांति सूक्ष्म रूप में विद्यमान हैं। वह यह सबका स्वामी और सबका अधिपति है, तथा यह जो कुछ भी है उन सब पर शासन करता है॥१॥

॥ इति षष्ठं ब्राह्मणम् ॥

॥ छठा ब्राह्मण समाप्त ॥

॥ श्री हरि ॥

॥बृहदारण्यकोपनिषद॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः – सप्तमं ब्राह्मणम्

सातवाँ ब्राह्मण

विद्युद् ब्रह्मेत्याहुर्विदानाद्विद्युद् विद्यत्येनं पाप्मनो य एवं वेद विद्युद्ब्रह्मेति । विद्युद्ध्येव ब्रह्म ॥ १॥

कहते हैं विद्युत् ब्रह्म है। विदान -खण्डन या विनाश करने के कारण विद्युत् है। जो 'विद्युत् ब्रह्म है' ऐसा जानता है, वह इस आत्मा के प्रति पापों का नाश कर देता है, क्योंकि विद्युत् ही ब्रह्म है॥१॥

॥ इति सप्तमं ब्राह्मणम् ॥

॥ सातवाँ ब्राह्मण समाप्त ॥

॥ श्री हरि ॥

॥बृहदारण्यकोपनिषद॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः – अष्टमं ब्राह्मणम्

आठवां ब्राह्मण

वाचं धेनुमुपासीत । तस्याश्चत्वारः स्तनाः स्वाहाकारो वषट्कारो हन्तकारः स्वधाकारस्तस्यै द्वौ स्तनौ देवा उपजीवन्ति स्वाहाकारं च वषट्कारं च हन्तकारं मनुष्याः स्वधाकारं पितरः । तस्याः प्राण ऋषभो मनो वत्सः ॥ १॥

वाणी की धेनु (गौ) समझ कर उपासना करनी चाहिए। उसके चार स्तन हैं-स्वाहाकार, वषट्कार, हन्तकार और स्वधाकार। देवता उसके दो स्तन स्वाहाकार और वषट्कार इन दोनों स्तनों पर जीविका करते हैं, के मनुष्य हन्तकार पर और पितर स्वधा पर जीविका करते हैं । उस धेनु का प्राण वृषभ है और मन बछड़ा है । ॥१॥

॥ इत्यष्टमं ब्राह्मणम् ॥

॥ आठवां ब्राह्मण समाप्त ॥

॥ श्री हरि ॥

॥बृहदारण्यकोपनिषद॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः – नवमं ब्राह्मणम्

नवां ब्राह्मण

अयमाग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते यदिदमद्यते । तस्यैष घोषो भवति यमेतत्कर्णाविपिधाय शृणोति । स यदोत्क्रमिष्यन्भवति नैनं घोषꣳ शृणोति ॥ १॥

जो यह पुरुष के भीतर है, यह अग्नि वैश्वानर है, जिससे कि यह अन्न, जो कि भक्षण किया जाता है, पकाया जाता है। उसी की यह आवाज होता है, जिसे पुरुष कानों को बंदकर सुनता है। जिस समय पुरुष इस शरीर से बाहर निकलने वाला होता है, उस समय वह इस ध्वनि को नहीं सुनता। ॥१॥

॥इति नवमं ब्राह्मणम्॥

॥नवां ब्राह्मण समाप्त॥

॥ श्री हरि ॥

॥बृहदारण्यकोपनिषद॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः – दशमं ब्राह्मणम्

दसवां ब्राह्मण

यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात्प्रैति स वायुमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा रथचक्रस्य खं तेन स ऊर्ध्व आक्रमते । स आदित्यमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथालम्बरस्य खं तेन स ऊर्ध्व आक्रमते । स चन्द्रमसमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा दुन्दुभेः खं तेन स ऊर्ध्व आक्रमते । स लोकमागच्छत्यशोकमहिमं तस्मिन्वसति शाश्वतीः समाः ॥१॥

जिस समय यह पुरुष इस लोक से मरकर जाता है, उस समय वह वायु में पहुँच जाता है। वहाँ वह वायु उसके लिये मार्ग दे देता है, जैसा कि रथ के पहिये का छिद्र होता है। उसके द्वारा वह ऊपर होकर चढ़ता है। वह सूर्यलोक में पहुँच जाता है। वहाँ सूर्य उसके लिये वैसा ही मार्ग देता है, जैसा कि लम्बर नाम के बाजे का छिद्र होता है। उसमें होकर वह ऊपर की ओर चढ़कर वह चन्द्रलोक में पहुँच जाता है। वहाँ चन्द्रमा भी उसके लिये छिद्रयुक्त मार्ग ही देता है, जैसा कि दुन्दुभि का छिद्र होता है। उसके द्वारा वह ऊपर की ओर चढ़ता है। वह अशोक-मानसिक दु:ख से रहित और अहिम-शारीरिक दुःख

शून्य लोकमें पहुँच जाता है और उसमें सदा-अनन्त वर्षों तक अर्थात् ब्रह्मा के अनेक कल्पों तक निवास करता है। ॥१॥

॥ इति दशमं ब्राह्मणम् ॥

॥दसवां ब्राह्मण समाप्त॥

॥ श्री हरि ॥

॥बृहदारण्यकोपनिषद॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः – एकादशं ब्राह्मणम्

ग्यारहवां ब्राह्मण

एतद्वै परमं तपो यद्व्याहितस्तप्यते परमꣳ हैव लोकं
जयति य एवं वेदैतद्वै परमं तपो यं प्रेतमरण्यꣳ हरन्ति
परमꣳ हैव लोकं जयति य एवं वेदैतद्वै परमं तपो यं
प्रेतमग्नावभ्यादधति परमꣳ हैव लोकं जयति य एवं वेद ॥ ११॥

व्याधियुक्त पुरुष को जो ताप होता है-यह निश्चय ही परम तप है, जो ऐसा जानता है, वह परम लोक को ही जीत लेता है। मृत पुरुष को जो वन को ले जाते हैं, यह निश्चय ही परम तप है। , जो ऐसा जानता है, वह परमलोक को ही जीत लेता है । मरे हुए मनुष्य को सब प्रकार जो अग्नि में रखते हैं, यह निश्चय ही परम तप है, जो ऐसा जानता है, वह परमलोक को ही जीत लेता है ॥१॥

॥ इति एकादशं ब्राह्मणम् ॥

॥ग्यारहवां ब्राह्मण समाप्त॥

॥ श्री हरि ॥

॥बृहदारण्यकोपनिषद॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः – द्वादशं ब्राह्मणम्

बारहवां ब्राह्मण

अन्नं ब्रह्मेत्येक आहुस्तन्न तथा पूयति वा अन्नमृते प्राणात्
प्राणो ब्रह्मेत्येक आहुस्तन्न तथाशुष्यति वै प्राण ऋतेऽन्नाद्
एते ह त्वेव देवतेएकधाभूयं भूत्वा परमतां गच्छतस्तद्ध स्माऽऽह
प्रातृदः पितरं किꣳ स्विदेवैवं विदुषे साधु कुर्यां किमेवास्मा असाधु
कुर्यामिति ।स ह स्माह पाणिना मा प्रातृद कस्त्वेनयोरेकधाभूयं भूत्वा
परमतां गच्छतीति ।तस्मा उ हैतदुवाच वीत्यन्नं वै वि अन्ने हीमानि
सर्वाणि भूतानि विष्टानि ।रमिति प्राणो वै रं प्राणे हीमानि सर्वाणि
भूतानि रमन्ते ।सर्वाणि ह वा अस्मिन् भूतानि विशन्ति सर्वाणि
भूतानि रमन्ते य एवं वेद ॥ १२॥

कोई हैं कि अन्न ब्रह्म है, कितु ऐसी बात नहीं है, क्योंकि प्राण के बिना अन्न गल जाता है। कोई कहते हैं कि प्राण ब्रह्म है, कितु ऐसी बात नहीं है, क्योंकि अन्न के बिना प्राण सूख जाता है। परन्तु रह दोनों देव एक रूपता को प्राप्त होकर परम भाव को प्राप्त होते हैं। ऐसा निश्चय कर प्रात्रद ऋषि ने अपने पिता से कहा था -इस प्रकार जानने वाला मैं क्या शुभ करूँ अथवा क्या अशुभ करूँ? क्योंकि प्रसन्न कतार्थ हो

जाने के कारण उसका न तो शुभ किया जा सकता है और न अशुभ ही। पिता ने हाथ से निवारण करते हुए कहा – प्रात्रद! ऐसा मत कहो। इन दोनों की एकरूपता को प्राप्त कर कौन परमता को प्राप्त होता है। अत: उन्होंने उससे 'वि' ऐसा कहा। 'वि' यही अन्न है। वि रूप अन्न में ही यह सब भूत प्रविष्ट हैं। रम यह प्राण है, क्योंकि रम अर्थात प्राण में ही यह सब भूत रमण करते हैं। जो ऐसा जानता है, उसमे यह सब भूत प्रविष्ट होते हैं और सभी भूत रमण करते हैं।

॥इति द्वादशं ब्राह्मणम् ॥

॥बारहवां ब्राह्मण समाप्त॥

॥ श्री हरि ॥

॥बृहदारण्यकोपनिषद॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः – त्रयोदशं ब्राह्मणम्

तेहरावां ब्राह्मण

उक्थं प्राणो वा उक्थं प्राणो हीदꣳ सर्वमुत्थापयत्युद्धास्मा धस्मादुक्थविद्वीरस्तिष्ठत्युक्थस्य सायुज्यꣳ सलोकतां जयति य एवं वेद ॥ १॥

'उक्थ' इस प्रकार प्राण की उपासना करे। प्राण ही उक्थ है, क्योंकि प्राण ही इन सब को उठाता है। जो ऐसा जानता है, उस से उक्थ का जानने वाला वीरपुत्र उत्पन्न होता है। जो ऐसी उपासना करता है, उसे प्राण के सायुज्य और सलोकता को जीतता है। ॥१॥

यजुः प्राणो वै यजुः प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि युज्यन्ते । युज्यन्ते हास्मै सर्वाणि भूतानि श्रैष्ठ्याय यजुषः सायुज्यꣳ सलोकतां जयति य एवं वेद ॥ २॥

'यजुः' इस प्रकार प्राण की उपासना करे। प्राण ही यजु है, क्योंकि प्राण में ही इन सब प्राणियों का योग होता है। सम्पूर्ण भूत इसकी श्रेष्ठता के कारण इससे संयुक्त होते हैं। जो ऐसी उपासना करता है, वह यजु के सायुज्य और सलोकता को प्राप्त होता है। ॥२॥

साम प्राणो वै साम प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि सम्यञ्चि । सम्यञ्चि हास्मै सर्वाणि भूतानि श्रैष्ठ्याय कल्पन्ते साम्नः सायुज्यꣳ सलोकतां जयति य एवं वेद ॥ ३॥

'साम' इस प्रकार प्राण की उपासना करे। प्राण ही साम है, क्योंकि प्राण में ही यह सभी प्राणी सुसंगत होते हैं। समस्त भूत उसके लिये सुसंगत होते हैं तथा उसकी श्रेष्ठता के लिये समर्थ होते हैं। जो इस प्रकार उपासना करता है, वह साम के सायुज्य और सलोकता को प्राप्त होता है ॥३॥

क्षत्रं प्राणो वै क्षत्रं प्राणो हि वै क्षत्रं त्रायते हैनं प्राणः क्षणितोः । प्र क्षत्रमत्रमप्नोति क्षत्रस्य सायुज्यꣳ सलोकतां जयति य एवं वेद ॥ ४॥

प्राण क्षत्र है-इस प्रकार प्राण की उपासना करे। प्राण ही क्षत्र अर्थात प्राण इसको क्षति से बचाता है। प्राण ही क्षत्र है-यह प्रसिद्ध है। प्राण इस देह की शस्त्रादि जनित क्षत से रक्षा करता है। अन्य किसी से त्राण न पाने वाले क्षत्र (प्राण) को प्राप्त होता है। जो इस प्रकार उपासना करता है, वह क्षत्र के सायुज्य और सलोकता को जीत लेता है ॥४॥

॥ इति त्रयोदशं ब्राह्मणम् ॥

॥तेहरवां ब्राह्मण समाप्त॥

॥ श्री हरि ॥

॥बृहदारण्यकोपनिषद॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः – चतुर्दशं ब्राह्मणम्

चौदहवां ब्राह्मण

भूमिरन्तरिक्षं द्यौरित्यष्टावक्षराण्यष्टाक्षरꣳ ह वा एकं गायत्र्यै पदमेतदु हैवास्या एतत् स यावदेषु त्रिषु लोकेषु तावद्ध जयति योऽस्या एतदेवं पदं वेद ॥ १॥

भूमि, अंतरिक्ष और द्यौ, यह आठ अक्षर हैं। आठ अक्षर वाला ही गायत्री का एक (प्रथम) पाद है। यह त्रिलोकी आदि ही इस गायत्रीका प्रथम पाद है। इस प्रकार इसके इस पद को जो जानता है, वह इस त्रिलोकी में जितना कुछ है, उस सबको जीत लेता है ॥१॥

ऋचो यजूꣳषि सामानीत्यष्टावक्षराण्यष्टाक्षरꣳ ह वा एकं गायत्र्यै पदम् । एतदु हैवास्या एतत् स यावतीयं त्रयी विद्या तावद्ध जयति योऽस्या एतदेवं पदं वेद ॥ २॥

'ऋचः, यजूंषि सामानि' ये आठ अक्षर हैं। आठ अक्षरवाला ही गायत्री का एक (द्वितीय) पाद है। यह (ऋक् आदि) ही इस गायत्री का द्वितीय पाद है। जो इस प्रकार इसके इस पाद को जानता है, वह जितनी यह त्रयीविद्या है अर्थात् त्रयीविद्या का जितना फल है उस सभी को जीत लेता है। ॥२॥

प्राणोऽपानो व्यान इत्यष्टावक्षराणि अष्टाक्षरꣳ ह वा एकं गायत्र्यै पदमेतदु हैवास्या एतत् स यावदिदं प्राणि तावद्ध जयति योऽस्या एतदेवं पदं वेद अथास्या एतदेव तुरीयं दर्शतं पदं परोरजा य एष तपति यद्वै चतुर्थं तत्तुरीयं दर्शतं पदमिति ददृश इव ह्येष परोरजा इति सर्वमु ह्येवैष रज उपर्युपरि तपत्येवꣳ हैव श्रिया यशसा तपति योऽस्या एतदेवं पदं वेद ॥ ३॥

प्राण, अपान, व्यान-ये आठ अक्षर हैं। आठ अक्षरवाला ही गायत्रीका एक (तृतीय) पाद है। यह प्राणादि ही इस गायत्री का 'तृतीय' पाद है। जो गायत्री के इस पद को इस प्रकार जानता है, वह जितना यह प्राणी समुदाय है, सबको जीत लेता है। और यह जो तपता (प्रकाशित होता) है वही इसका तुरीय, दर्शत एवं परोरजा पद है। जो चतुर्थ होता है, वही 'तुरीय' कहलाता है। 'दर्शतं पदम्' इसका अर्थ है-मानो यह सूर्य मण्डलस्थ पुरुष दीखता है, 'परोरजा' इसका अर्थ है-यह सभी रज यानी लोकों के ऊपर-ऊपर रहकर प्रकाशित होता है। जो गायत्री के इस चतुर्थ पदको इस प्रकार जानता है, वह इसी प्रकार शोभा और कीर्ति से प्रकाशित होता है। ॥३॥

सैषा गायत्र्येतस्मिꣳस्तुरीये दर्शते पदे परोरजसि प्रतिष्ठिता तद्वै तत्सत्ये प्रतिष्ठितं चक्षुर्वै सत्यं चक्षुर्हि वै सत्यं तस्माद्यदिदानीं द्वौ विवदमानावेयातामहम् अदर्शं अहमश्रौषमिति य एव एवं ब्रूयादहम् अदर्शमिति तस्मा एव श्रद्दध्याम । तद्वै तत्सत्यं बले प्रतिष्ठितं प्राणो वै बलं तत्प्राणे प्रतिष्ठितं तस्मादाहुर्बलꣳ सत्यादोगीय इत्येवं वेषा गायत्र्यध्यात्मं प्रतिष्ठिता । सा हैषा गयाꣳस्तत्रे प्राणा वै गयास्तत्प्राणाꣳस्तत्रे तद्यद्गयाꣳस्तत्रे तस्माद् गायत्री नाम ।

स यामेवामूः सावित्रीमन्वाहैषैव सा । स यस्मा अन्वाह तस्य प्राणाःस्त्रायते ॥ ४॥

वह गायत्री इस चतुर्थ दर्शत परोरजा पद में प्रतिष्ठित है। वह पद सत्य में प्रतिष्ठित है। नेत्र ही सत्य है, नेत्र ही सत्य है-यह प्रसिद्ध है। इसी से यदि दो पुरुष 'मैंने देखा है' मैंने सुना है' इस प्रकार विवाद करते हुए आयें तो उनमें से जो यह कहता होगा कि 'मैंने देखा है, उसी का हम विश्वास करेंगे। वह तुरीय पादका आश्रयभूत सत्य बल में प्रतिष्ठित है। प्राण ही बल है, वह सत्य प्राण में प्रतिष्ठित है। इसी से कहते हैं कि सत्य की अपेक्षा बल ओजस्वी है। इस प्रकार यह गायत्री अध्यात्म प्राण में प्रतिष्ठित है। उस इस गायत्री ने गयों का त्राण किया था। प्राण ही गय हैं, उन प्राणों का इसने त्राण किया। इसने गयों का त्राण किया था, इसी से इसका 'गायत्री' नाम हुआ। आचार्य ने आठ वर्ष के वटु के प्रति उपनयन के समय जिस सावित्री का उपदेश किया था, वह यही है। वह जिस-जिस वटु को इसका उपदेश करता है, यह उसके-उसके प्राणों की रक्षा करती है॥४॥

ताः हैतामेके सावित्रीमनुष्टुभमन्वाहुर्वागनुष्टुब् एतद्वाचमनुब्रूम इति । न तथा कुर्याद् गायत्रीमेवानुब्रूयाद् । यदि ह वा अप्येवंविद्बह्विव प्रतिगृह्णाति न हैव तद्गायत्र्या एकं चन पदं प्रति ॥ ५॥

कोई शाखा वाले इस अनुष्टुप छंद वाली सावित्री का उपदेश करते हैं अर्थात गायत्री छन्दवाली सावित्री का उपदेश न करके अनुष्टुप छंद की सावित्री का उपदेश करते हैं। वे कहते हैं कि वाणी अनुष्टुप्

है, इसलिये हम वाणी का ही उपदेश करते हैं। किंतु ऐसा नहीं करना चाहिये। गायत्री छन्दवाली सावित्री का ही उपदेश करना चाहिए। ऐसा जाननेवाला जो अधिक प्रतिग्रह भी करे तो भी वह गायत्री के एक पद के बराबर भी नहीं हो सकता ॥५॥

स य इमाꣳस्त्रींल्लोकान्पूर्णान्प्रतिगृह्णीयात् सोऽस्या एतत्प्रथमं पदमाप्नुयाद् । अथ यावतीयं त्रयी विद्या यस्तावत्प्रतिगृह्णीयात् सोऽऽस्या एतद्द्वितीयं पदमाप्नुयादथ यावदिदं प्राणि यस्तावत्प्रतिगृह्णीयात् सोऽस्या एतत्तृतीयं पदमाप्नुयादथास्या एतदेव तुरीयं दर्शतं पदं परोरजा य एष तपति नैव केन चनाप्यं कुत उ एतावत्प्रतिगृह्णीयात् ॥ ६॥

जो इन तीन पूर्ण लोकों का प्रतिग्रह करता है, उसका वह (प्रतिग्रह) इस गायत्री के इस प्रथम पाद को व्याप्त करता है और जितनी यह त्रयीविद्या है, उसका जो प्रतिग्रह करता है, वह (प्रतिग्रह) इसके इस द्वितीय पाद को व्यास करता है और जितने ये प्राणी हैं, उनका जो प्रतिग्रह करता है, वह (प्रतिग्रह) इसके इस तृतीय पदको व्याप्त करता है और यही इसका तुरीय दर्शत परोरजा पद है, जो कि यह तपता है, यह किसी के द्वारा प्राप्य नहीं है; क्योंकि इतना प्रतिग्रह कोई कहाँ से कर सकता है? ॥६॥

तस्या उपस्थानं गायत्र्यस्येकपदी द्विपदी त्रिपदी चतुष्पद्यपदसि न हि पद्यसे । नमस्ते तुरीयाय दर्शताय पदाय परोरजसेऽसावदो मा प्रापदिति यं द्विष्यादसावस्मै कामो मा समृद्धीति वा न हैवास्मै स कामः समृद्ध्यते यस्मा एवमुपतिष्ठतेऽहमदः प्रापमिति वा ॥ ७॥

उस गायत्री का उपस्थान-हे गायत्रि! तू त्रैलोक्य रूप प्रथम पाद से एक पाद वाली है, तीनों वेदरूप द्वितीय पाद से द्विपदी है, प्राण, अपान और व्यानरूप तीसरे पाद से त्रिपदी है और तुरीय पाद से चतुष्पदी है, इन सबसे परे निरुपाधिक स्वरूप से तू अपद है; क्योंकि तू जानी नहीं जाती। अत: व्यवहार के अविषय भूत एवं समस्त लोकों से ऊपर विराजमान तेरे दर्शनीय तुरीय पदको नमस्कार है। यह पापरूपी शत्रु इस विघ्नाचरण रूप कार्य में सफलता नहीं प्राप्त करे। इस प्रकार यह विद्वान् जिससे द्वेष करता हो 'उसकी कामना पूर्ण न हो' ऐसा कहकर उपस्थान करे। जिसके लिये इस प्रकार उपस्थान किया जाता है, उसकी कामना पूर्ण नहीं होती। अथवा 'मैं इस वस्तुको प्राप्त करूँ' ऐसी कामना से उपस्थान करे। ॥७॥

एतद्ध वै तज्जनको वैदेहो बुडिलमाश्वतराश्विमुवाच यन्नु हो तद्गायत्रीविदब्रूथा अथ कथꣳ हस्ती भूतो वहसीति । मुखꣳ ह्यस्याः सम्राण् न विदां चकारेति होवाच । तस्या अग्निरेव मुखं यदि ह वा अपि बह्विवाग्नावभ्यादधति सर्वमेव तत्सन्दहत्येवꣳ हैवैवंविद् यद्यपि बह्विव पापं कुरुते सर्वमेव तत्सम्प्साय शुद्धः पूतोऽजरोऽमृतः सम्भवति ॥ ८॥

उस विदेह जनकने बुडिल आश्वतराश्विसे यही बात कही थी कि 'तूने जो अपने को गायत्रीविद् अर्थात गायत्री-तत्त्व का ज्ञाता कहा था, तो फिर प्रतिग्रह के दोष से हाथी के समान भार क्यों ढोता है?' इस पर उसने 'हे सम्राट् ! मैं इसका मुख ही नहीं जानता था' कहा। तब जनकने कहा 'इसका अग्नि ही मुख है। यदि अग्निमें लोग बहुत-सा

ईंधन रख दें तो वह उन सभी को जला डालता है। इसी प्रकार ऐसा जानने वाला बहुत-सा पाप करता रहा हो तो भी वह उस सबको भक्षण करके शुद्ध, पवित्र, अजर, अमर हो जाता है। ॥८॥

॥ इति चतुर्दशं ब्राह्मणम् ॥

॥चौदहवां ब्राह्मण समाप्त॥

॥ श्री हरि ॥

॥बृहदारण्यकोपनिषद॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः – पञ्चदशं ब्राह्मणम्

पंद्रहवां ब्राह्मण

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् । तत्त्वं पूषन्न् अपावृणु
सत्यधर्माय दृष्टये । पूषन्न् एकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य
व्यूह रश्मीन् । समूह तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि ।
योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि । वायुरनिलममृतमथेदं
भस्मान्तꣳ शरीरम् । ॐ३ क्रतो स्मर कृतꣳ स्मर क्रतो स्मर
कृतꣳ स्मर । अग्ने नय सुपथा रायेऽस्मान् विश्वानि देव वयुनानि
विद्वान् । युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥ १॥

सत्य संज्ञक ब्रह्म का मुख ज्योतिर्मय पात्र से आच्छादित है। हे संसार का पोषण करनेवाले सूर्यदेव ! तू उसे, मुझ, सत्यधर्म के प्रति उसके दर्शनके लिये उघाड़ दे। हे पूषन् ! हे एकर्षे ! हे यम ! हे सूर्य ! हे प्राजापत्य ! अपनी किरणों को हटा ले और तेज को समेट ले। तेरा जो अत्यन्त कल्याण मय रूप है, उसे मैं देखता हूँ। यह जो सूर्य मण्डल में स्थित पुरुष है, वही मैं अमृतस्वरूप हूँ। मुझ अमृत एवं सत्य स्वरूप आत्मा का शरीरपात हो जानेपर इस शरीरके भीतर का प्राणवायु इस बाह्यवायुको प्राप्त हो तथा यह शरीर भस्म शेष होकर पृथ्वी को प्राप्त हो। हे प्रणवरूप एवं मनोमय क्रतुरूप अग्निदेव ! जो

स्मरण करने योग्य है, उसका स्मरण कर। मैंने जो किया है, उसका स्मरण कर। हे क्रतुरूप अग्निदेव । जो स्मरण करने योग्य है, उसका स्मरण कर; किये हुए का स्मरण कर। हे अग्ने ! हमें तू कर्मफल की प्राप्ति के लिये शुभ मार्ग अर्थात देवयान मार्ग से ले चल। हे देव ! तू सम्पूर्ण प्राणियों के समस्त प्रज्ञानों को जाननेवाला है। हमारे कुटिल पापों को हमसे दूर कर। हम तुझे अनेकों बार नमस्कार करते हैं। ॥१॥

॥ इति पञ्चदशं ब्राह्मणम् ॥

॥पंद्रहवां ब्राह्मण समाप्त॥

॥ इति बृहदारण्यकोपनिषदि पञ्चमोऽध्यायः ॥

॥ बृहदारण्य उपनिषद का पांचवां अध्याय समाप्त ॥

॥ श्री हरि ॥

॥बृहदारण्यकोपनिषद॥

अथ षष्ठोऽध्यायः - प्रथमं ब्राह्मणम्

छठा अध्याय

प्रथम ब्राह्मण

ॐ यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद ज्येष्ठश्च
श्रेष्ठश्च स्वानां भवति । प्राणो वै ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च ।
ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वानां भवत्यपि च येषां बुभूषति य
एवं वेद ॥ १॥

जो कोई ज्येष्ठ और श्रेष्ठ को जानता है, वह अपने जाति जनों में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ होता है। प्राण ही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है। जो इस प्रकार जानता है, वह अपने जाति जनों में तथा और भी जिन्हें चाहता है, उनमें भी ज्येष्ठ और श्रेष्ठ होता है। ॥१॥

यो ह वै वसिष्ठां वेद वसिष्ठः स्वानां भवति । वाग्वै वसिष्ठा ।
वसिष्ठः स्वानां भवत्यपि च येषां बुभूषति , य एवं वेद ॥ २॥

जो वसिष्ठा को जानता है, वह स्वजनों में वसिष्ठ होता है। वाणी ही वसिष्ठा है। जो ऐसी उपासना करता है, वह स्वजनों में तथा और भी जिन्हें चाहता है, उनमें वसिष्ठ होता है। ॥२॥

यो ह वै प्रतिष्ठां वेद प्रतितिष्ठति समे प्रतितिष्ठति दुर्गे ।
चक्षुर्वै प्रतिष्ठा चक्षुषा हि समे च दुर्गे च प्रतितिष्ठति ।
प्रतितिष्ठति समे प्रतितिष्ठति दुर्गे य एवं वेद ॥ ३॥

जो प्रतिष्ठा को जानता है, वह समान देश-काल में प्रतिष्ठित होता है और दुर्गम देश-काल में भी प्रतिष्ठित होता है। नेत्र ही प्रतिष्ठा है। नेत्र ही समान और दुर्गम देश-काल में प्रतिष्ठित होता है। जो ऐसी उपासना करता है, वह समान और दुर्गम में प्रतिष्ठित होता है।॥३॥

यो ह वै सम्पदं वेद सꣳ हास्मै पद्यते यं कामं कामयते ।
श्रोत्रं वै सम्पच्छ्रोत्रे हीमे सर्वे वेदा अभिसम्पन्नाः । सꣳ
हास्मै पद्यते यं कामं कामयते य एवं वेद ॥ ४॥

जो सम्पदा को जानता है, वह जिस किसी भी भोग की इच्छा करता है, वही उसे सम्यक् प्रकार से प्राप्त हो जाता है। श्रोत्र ही सम्पद् है। श्रोत्र में ही ये सब वेद सब प्रकार निष्पन्न हैं। जो ऐसी उपासना करता है, वह जिस भोग की इच्छा करता है, वही उसे सम्यक् प्रकार से प्राप्त हो जाता है॥४॥

योहवा आयतनं वेदाऽऽयतनꣳ स्वानां भवति आयतनं जनानाम् ।
मनो वा आयतनमायतनꣳ स्वानां भवत्यायतनं जनानां य एवं वेद
॥५॥

जो इन्द्रियों और विषयों के आश्रय दाता शरीर को जानता है, वह स्वजनों का आश्रय दाता होता है तथा अन्य जनों का भी आश्रय दाता होता है। मन ही आश्रय दाता है जो इस प्रकार जानता है, वह स्वजनों का आश्रय दाता होता है तथा अन्य जनों का भी आश्रय दाता होता है ॥५॥

यो ह वै प्रजातिं वेद प्रजायते ह प्रजया पशुभी रेतो वै प्रजातिः ।
प्रजायते ह प्रजया पशुभिर्य एवं वेद ॥ ६॥

जो भी प्रजापति को जानता है वह प्रजा और पशुओं द्वारा प्रजात (वृद्धि को प्राप्त) होता है। रेतस् ही प्रजापति है। जो ऐसा जानता है, वह प्रजा और पशुओं द्वारा प्रजात होता है॥६॥

ते हेमे प्राणा अहꣳश्रेयसे विवदमाना ब्रह्म जग्मुस्तद्धोचुः को नो
वसिष्ठ इति । तद्धोवाच यस्मिन्व उत्क्रान्त इदꣳ शरीरं पापीयो
मन्यते स वो वसिष्ठ इति ॥ ७॥

वह प्राण इन्द्रियां 'मैं श्रेष्ठ हूँ, मैं श्रेष्ठ हूँ' इस प्रकार विवाद करते हुए ब्रह्माजी के पास गये। उनसे बोले 'हममें कौन श्रेष्ठ है ?' उन्होंने कहा,

'तुममें से जिसके शरीर के बाहर निकलने पर यह शरीर अपने को अधिक पापी मानता है, वही तुममें से श्रेष्ठ है'॥७॥

वाग्घोच्चक्राम । सा संवत्सरं प्रोष्या।आ।आगत्योवाच कथमशकत मद्दते जीवितुमिति । ते होचुर्यथाऽकला अवदन्तो वाचा प्राणन्तः प्राणेन पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण विद्वाꣳसो मनसा प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति । प्रविवेश ह वाक् ॥ ८॥

पहले वाणी शरीर से बाहर निकली। उसने एक वर्ष तक बाहर रहकर लौटकर कहा-'मेरे बिना तुम कैसे जीवित रह सके थे ?' यह सुनकर उन्होंने कहा, 'जैसे मूक पुरुष वाणी से न बोलते हुए भी प्राण से प्राणक्रिया करते, नेत्र से देखते, श्रोत्र से सुनते, मन से जानते और रेतस् से प्रजा (सन्तान) की उत्पत्ति करते हुए जीवित रहते हैं, उसी प्रकार हम जीवित रहे।' यह सुनकर वाणी ने प्रवेश किया ॥८॥

चक्षुर्होच्चक्राम । तत्संवत्सरं प्रोष्याऽऽगत्योवाच कथमशकत मद्दते जीवितुमिति । ते होचुर्यथान्धा अपश्यन्तश्चक्षुषा प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा शृण्वन्तः श्रोत्रेण विद्वाꣳसो मनसा प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति । प्रविवेश ह चक्षुः ॥ ९॥

उसके पश्च्यात नेत्र शरीर से बाहर निकला। उसने एक वर्ष बाहर रहकर लौटकर कहा, 'तुम मेरे बिना कैसे जीवित रह सके थे?' वह बोले-'जिस प्रकार अन्धे लोग नेत्र से न देखते हुए भी प्राण से प्राणक्रिया करते, वाणी से बोलते, श्रोत्र से सुनते, मन से जानते और

रेतस् से प्रजा उत्पन्न करते हुए जीवित रहते हैं, उसी प्रकार हम जीवित रहे।' यह सुनकर नेत्र ने प्रवेश किया॥९॥

श्रोत्रꣳ होच्चक्राम । तत्संवत्सरं प्रोष्याऽऽगत्योवाच
कथमशकत मदृते जीवितुमिति । ते होचुर्यथा बधिरा अशृण्वन्तः
श्रोत्रेण प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा
विद्वाꣳसो मनसा प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति । प्रविवेश ह
श्रोत्रम् ॥ १०॥

फिर श्रोत्र शरीर से बाहर निकला। उसने एक वर्ष बाहर रहकर लौटकर कहा–'तुम मेरे बिना कैसे जीवित रह सके थे?' वे बोले-'जिस प्रकार बहरे आदमी कानों से न सुनते हुए भी प्राण से प्राणक्रिया करते, वाणी से बोलते, नेत्र से देखते, मन से जानते और रेतस् से प्रजा उत्पन्न करते हुए जीवित रहते हैं, उसी प्रकार हम जीवित रहे।' यह सुनकर श्रोत्र ने प्रवेश किया॥ १०॥

मनो होच्चक्राम । तत्संवत्सरं प्रोष्याऽऽगत्योवाच कथमशकत
मदृते जीवितुमिति । ते होचुर्यथा मुग्धा अविद्वाꣳसो मनसा
प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः
श्रोत्रेण प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति । प्रविवेश ह मनः ॥ ११॥

फिर मन शरीर से बाहर निकला। उसने एक वर्ष बाहर रहकर लौटकर कहा, 'तुम मेरे बिना कैसे जीवित रह सके थे?' वे बोले, "जिस प्रकार मुग्ध पुरुष मन से न समझते हुए भी, प्राण से प्राण क्रिया, वाणी से बोलते, नेत्र से देखते, कान से सुनते और रेतस् से प्रजा उत्पन्न

करते हुए जीवित रहते हैं, उसी प्रकार हम जीवित रहे।' यह सुनकर मन ने शरीरमें प्रवेश किया॥ ११॥

रेतो होच्चक्राम । तत्संवत्सरं प्रोष्याऽऽगत्योवाच कथमशकत मद्दते जीविततुमिति । ते होचुर्यथा क्लीबा अप्रजायमाना रेतसा प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण विद्वाꣳसो मनसैवमजीविष्मेति । प्रविवेश ह रेतः ॥ १२॥

इसके पश्च्यात रेतस शरीर से बाहर निकला।उसने एक वर्ष बाहर रहकर फिर लौटकर कहा, 'तुम मेरे बिना कैसे जीवित रह सके थे ?' वे बोले, जिस प्रकार नपुंसक लोग रेतस् से प्रजा उत्पन्न न करते हुए भी प्राण से प्राणक्रिया करते, वाणी से बोलते, नेत्र से देखते, श्रोत्र से सुनते और मन से जानते हुए जीवित रहते हैं, उसी प्रकार हम जीवित रहे।' यह सुनकर वीर्य ने शरीर में प्रवेश किया॥ १२॥

अथ ह प्राण उत्क्रमिष्यन् यथा महासुहयः सैन्धवः पड्वीशशङ्कून्संवृहेदेवꣳ हैवेमान्प्राणान्संववर्ह । ते होचुर्मा भगव उत्क्रमीर्न वै शक्ष्यामस्त्वद्दते जीवितुमिति । तस्यो मे बलिं कुरुतेति तथेति ॥ १३॥

फिर प्राण शरीर से बाहर निकलने लगा, तो जिस प्रकार सिन्धुदेशीय महान् अश्व पैर बाँधने के खूटों को उखाड़ डालता है, उसी प्रकार वह इन ससभी इन्द्रियों को उखाड़ने लगा। उन्होंने कहा, "भगवन् ! आप शरीर से बाहर न निकलें, आपके बिना हम जीवित नहीं रह सकते।'

प्राण ने कहा, "अच्छा तो तुम सभी मुझे भेंट अर्पित करो। अन्य इन्द्रियों ने कहा- 'बहुत अच्छा ॥१३॥

सा ह वागुवाच यद्वा अहं वसिष्ठाऽस्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसीति । यद् वा अहं प्रतिष्ठास्मि त्वं तत्प्रतिष्ठोऽसीति चक्षुर्यद्वा अह९ सम्पदस्मि त्वं तत् सम्पदसीति श्रोत्रम् । यद् वा अहमायतनमस्मि त्वं तदायतनमसीति मनो यद्वा अहं प्रजातिरस्मि त्वं तत् प्रजातिरसीति रेतस्तस्यो मे किमन्नं किं वास इति । यदिदं किञ्चाऽऽश्वभ्य आ कृमिभ्य आ कीटपतङ्गेभ्यस्तत्तेऽन्नमापो वास इति । न ह वा अस्यानन्नं जग्धं भवति नानन्नं प्रतिगृहीतं य एवमेतदनस्यान्नं वेद । तद् विद्वा९सः श्रोत्रिया अशिष्यन्त आचामन्त्यशित्वाऽऽचामन्त्येतमेव तदनमनग्नं कुर्वन्तो मन्यन्ते ॥१४॥

उस वाणी इंद्री ने कहा, "मैं जो वसिष्ठा हूँ, सो तुम ही उस वसिष्ठ गुण से युक्त हो।' 'मैं जो प्रतिष्ठा हूँ, सो तुम ही उस प्रतिष्ठा से युक्त हो' ऐसा नेत्रने कहा। 'मैं जो सम्पद् हूँ, सो तुम ही उस सम्प द्से युक्त हो' ऐसा श्रोत्र ने कहा। 'मैं जो आयतन हूँ, सो तुम्ही वह आयतन हो' ऐसा मन ने कहा। 'मैं जो प्रजाति हूँ, सो तुम ही उस प्रजाति से युक्त हो' ऐसा रेतस् ने कहा। प्राणने कहा- 'किंतु ऐसे गुणों से युक्त होने पर मेरा अन्न क्या है और क्या वस्त्र है?' वाणी इत्यादि इन्द्रियां बोले- 'कुत्ते, कृमि और कीट-पतङ्गोंसे लेकर यह जो कुछ भी है, वह सब तेरा अन्न है और जल ही वस्त्र है।' जो इस प्रकार प्राण के अत्रको जानता है, उसके द्वारा अभक्ष्य भक्षण नहीं होता और अभक्ष्य का प्रतिग्रह (संग्रह) भी नहीं होता। ऐसा जानने वाले श्रोत्रिय भोजन करने से पूर्व

आचमन करते हैं तथा भोजन करके आचमन करते हैं। इसी को वे उस प्राण को अनग्न करना मानते हैं अर्थात जल रुपी वस्त्र अर्पण करते हैं ॥१४॥

॥ इति प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

॥ प्रथम ब्राह्मण समाप्त ॥

॥ श्री हरि ॥

॥बृहदारण्यकोपनिषद॥

अथ षष्ठोऽध्यायः - द्वितीयं ब्राह्मणम्

द्वितीय ब्राह्मण

श्वेतकेतुर्ह वा आरुणेयः पञ्चालानां परिषदमाजगाम । स आजगाम जैवलिं प्रवाहणं परिचारयमाणम् । तमुदीक्ष्याभ्युवाद कुमारा३ इति । स भोः ३ इति प्रतिशुश्राव अनुशिष्टोऽन्वसि पित्रेत्योमिति होवाच ॥१॥

प्रसिद्ध है कि आरुणिका पुत्र श्वेतकेतु पाञ्चालों की सभा में आया। वह जैबल के पुत्र प्रवाहण के पास पहुँचा, जो सेवकों से परिचर्या करा रहा था। उसे देखकर प्रवाहण ने कहा, 'ओ कुमार !' वह बोला 'भो !' प्रवाहण ने पूछा- 'क्या तेरे पिताने तुझे शिक्षा दी है?' तब श्वेतकेतु ने कहा 'हाँ' ॥१॥

वेत्थ यथेमाः प्रजाः प्रयत्यो विप्रतिपद्यन्ता३ इति । नेति होवाच । वेत्थो यथेमं लोकं पुनरापद्यन्ता३ इति । नेति हैवोवाच । वेत्थो यथाऽसौ लोक एवं बहुभिः पुनःपुनः प्रयद्भिर्न सम्पूर्यता३ इति नेति हैवोवाच । वेत्थो यतिथ्यामाहुत्याꣳ हुतायामापः पुरुषवाचो भूत्वा समुत्थाय वदन्ती३ इति । नेति हैवोवाच । वेत्थो देवयानस्य वा पथः प्रतिपदं पितृयाणस्य वा यत्कृत्वा देवयानं वा पन्थानं

प्रतिपद्यन्ते पितृयाणं वाऽपि हि न ऋषेर्वचः श्रुतं द्वे सृती अशृणवं पितृणामहं देवानामुत मर्त्यानां ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं चेति । नाहमत एकं चन वेदेति होवाच ॥ २॥

प्रवाहण ने पूछा: जिस प्रकार मरने पर यह प्रजा विभिन्न मार्गों से जाती है-'सो क्या तू जानता है?'

श्वेतकेतु ने उत्तर दिया : 'नहीं'।

प्रवाहण ने पूछा: 'जिस प्रकार वह पुन: इस लोकमें आती है, सो क्या तुझे मालूम है ?

श्वेतकेतु ने उत्तर दिया: नहीं'।

प्रवाहण ने पूछा: 'इस प्रकार पुन:-पुन: बहुतों के मरकर जानेपर भी जिस प्रकार वह लोक भरता नहीं है, सो क्या तू जानता है?

श्वेतकेतु ने उत्तर दिया: नहीं'।

प्रवाहण ने पूछा: 'क्या तू जानता है कि कितने बारकी आहुतिके हवन करनेपर आप (जल) पुरुष शब्दवाच्य हो उठकर बोलने लगता है ?

श्वेतकेतु ने उत्तर दिया: नहीं'।

प्रवाहण ने पूछा: 'क्या तू देवयानमार्गका कर्मरूप साधन अथवा पितृयानका कर्मरूप साधन जानता है, जिसे करके लोग देवयानमार्गको प्राप्त होते हैं अथवा पितृयानमार्गको? हमने तो

मन्त्रका यह वचन सुना है-'मैंने पितरोंका और देवोंका इस प्रकार दो मार्ग सुने हैं, ये दोनों मनुष्योंसे सम्बन्ध रखनेवाले मार्ग हैं। इन दोनों मार्गोंसे जानेवाला जगत् सम्यक् प्रकारसे जाता है तथा ये मार्ग (धुलोक और पृथिवीरूप) पिता और माताके मध्यमें हैं?

श्वेतकेतु ने उत्तर दिया: 'मैं इनमें से एकको भी नहीं जानता' । ॥२॥

अथैनं वसत्योपमन्त्रयां चक्रेऽनादृत्य वसतिं कुमारः
प्रदुद्राव । स आजगाम पितरं तꣳ होवाचेति वाव किल नो
भवान्पुराऽनुशिष्टानवोच इति । कथꣳ, सुमेध इति । पञ्च
मा प्रश्नात्राजन्यबन्धुरप्राक्षीत् ततो नैकञ्चन वेदेति । कतमे त
इति इम इति ह प्रतीकान्युदाजहार ॥ ३॥

फिर राजा ने श्वेतकेतु से ठहरने के लिये प्रार्थना की। किंतु वह कुमार ठहरने की परवाह न करके चल दिया। वह अपने पिता के पास आया और उनसे बोला, 'आपने यही कहा था न, कि मुझे सब विषयोंकी शिक्षा दे दी गयी है?'

पिता ने कहा: 'हे सुन्दर धारणा शक्तिवाले! क्या हुआ?'

श्वेतकेतु ने कहा: 'मुझसे एक क्षत्रियबन्धुने पाँच प्रश्न पूछे थे, उनमेंसे मैं एकको भी नहीं जानता।

पिता ने पूछा: 'वे कौन-से थे?'

श्वेतकेतु ने कहा: 'ये थे' ऐसा कहकर उसने उन प्रश्नोंके प्रतीक बतलाये ॥३॥

स होवाच तथा नस्त्वं तात जानीथा यथा यदहं किञ्च वेद
सर्वमहं तत्तुभमवोचम् । प्रेहि तु तत्र प्रतीत्य ब्रह्मचर्यं
वत्स्याव इति । भवानेव गच्छत्विति । स आजगाम गौतमो यत्र
प्रवाहणस्य जैवलेरास । तस्मा आसनमाहृत्योदकमहारयां चकाराथ
हास्मा अर्घ्यं चकार । तꣳ होवाच वरं भगवते गौतमाय दद्म
इति ॥ ४॥

उस पिता ने कहा, "हे तात! तू हमारे कथनानुसार ऐसा समझ कि हम जो कुछ जानते थे वह सब हमने तुझसे कह दिया था। अब हम दोनों वहीं चलें और ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक उसके यहाँ निवास करेंगे।'

श्वेतकेतु ने कहा: आप ही जाइये। तब वह गौतम जहाँ जैवलि प्रवाहणकी बैठक थी, वहाँ आया। उसके लिये आसन लाकर राजाने जल मँगवाया और उसे अर्घ्यदान किया। फिर बोला, मैं पूज्य गौतम को वर देता हूँ"॥४॥

स होवाच प्रतिज्ञातो म एष वरो यां तु कुमारस्यान्ते
वाचमभाषथास्तां मे ब्रूहीति ॥ ५॥

गौतम ने कहा, 'आपने मुझे जो वर देनेके लिये प्रतिज्ञा की है, उसके अनुसार आपने कुमार से जो बात पूछी थी वह मुझसे कहिये ॥५॥

स होवाच दैवेषु वै गौतम तद्वरेषु मानुषाणां ब्रूहीति ॥ ६॥

प्रवाहण ने कहा, 'गौतम ! वह वर तो दैव वरों में से है, तुम मनुष्य सम्बन्धी वरों में से कोई वर माँगो' ॥६॥

स होवाच विज्ञायते हास्ति हिरण्यस्यापात्तं गोअश्वानां दासीनां प्रवाराणां
परिधानस्य मा नो भवान्बहोरनन्तस्यापर्यन्तस्याभ्यवदान्यो भूदिति ।
स वै गौतम तीर्थेनेच्छासा इत्युपैम्यहं भवन्तमिति वाचा ह स्मैव
पूर्व उपयन्ति । स होपायनकीर्त्योवास ॥ ७॥

गौतम ने कहा: आप जानते हैं, वह तो मेरे पास है। मुझे सुवर्णकी प्राप्ति तथा गौ, अश्व, दासी, परिवार और परिधान की भी प्राप्ति है। आप महान, अनन्त और नि:सीम धनके दाता होकर मेरे लिये अदाता न हों।'

प्रवाहण ने कहा : तो गौतम । तुम शास्त्रोक्त विधिसे उसे पानेकी इच्छा करो।'

गौतम ने कहा: 'बहुत अच्छा, मैं आपके प्रति शिष्यभाव से उपस्थित) होता हूँ। पहले ब्राह्मण लोग वाणीसे ही क्षत्रियादि के प्रति उपसन्न होते रहे हैं।'

इस प्रकार उपसत्ति का वाणी से कथनमात्र करके गौतम वहाँ रहने लगा ॥७॥

स होवाच तथा नस्त्वं गौतम माऽपराधास्तव च पितामहा यथेयं विद्येतः पूर्वं न कस्मिंश्चन ब्राह्मण उवास तां त्वहं तुभ्यं वक्ष्यामि को हि त्वैवं ब्रुवन्तमर्हति प्रत्याख्यातुमिति ॥ ८॥

प्रवाहण ने कहा: 'गौतम ! जिस प्रकार तुम्हारे पितामहों ने हमारे पूर्वजों का अपराध नहीं माना, उसी प्रकार तुम भी हमारा अपराध न मानना। इससे पूर्व यह विद्या किसी ब्राह्मणके यहाँ नहीं रही। उसे मैं तुम्हारे ही प्रति कहता हूँ। भला, इस प्रकार विनयपूर्वक बोलनेवाले तुमको विद्या देने से इनकार करने में कौन समर्थ हो सकता है?'॥८॥

असौ वै लोकोऽग्निर्गौतम । तस्याऽऽदित्य एव समिद् रश्मयो धूमो ऽहरर्चिर्दिशोऽङ्गारा अवान्तरदिशो विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुत्यै सोमो राजा सम्भवति ॥ ९॥

हे गौतम ! यह लोक द्युलोक ही अग्नि है। सूर्य ही उसका ईंधन है, किरणें धुआं हैं, दिन ज्वाला है, दिशाएँ अंगारे हैं, मध्य की दिशाएँ चिनगारियाँ हैं। उस इस अग्नि में देवगण श्रद्धा को हवन करते हैं, उस आहुति से राजा सोम होता है॥९॥

पर्जन्यो वा अग्निर्गौतम । तस्य संवत्सर एव समिदभ्राणि धूमो विद्युदर्चिरशनिरङ्गारा ह्रादुनयो विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ

देवाः सोमꣳ राजानं जुह्वति तस्या आहुत्यै वृष्टिः सम्भवति ॥ १०॥

हे गौतम ! मेघ ही अग्नि है। संवत्सर ही उसका ईंधन है, अभ्र धुआं हैं, विद्‌युत् ज्वाला है, बिजली का कड़कना अंगार है, मेघगर्जन चिंगारियां है। उस इस अग्नि में देवगण सोम राजाको हवन करते हैं। उस आहुतिसे वृष्टि होती है ॥१०॥

अयं वै लोकोऽग्निर्गौतम । तस्य पृथिव्येव समिद्
अग्निर्धूमो रात्रिरर्चिश्चन्द्रमा अङ्गारा नक्षत्राणि
विष्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा वृष्टिं जुह्वति तस्या आहुत्या
अन्नꣳ सम्भवति ॥ ११॥

हे गौतम ! यह लोक ही अग्नि है। इसकी पृथिवी ही ईंधन है, अग्नि धुआं है, रात्रि ज्वाला है, चन्द्रमा अंगारे है और नक्षत्र चिंगारियां हैं। इस अग्नि में देवता वृष्टि को होमते हैं, उस आहुति से अन्न होता है ॥११॥

पुरुषो वा अग्निर्गौतम । तस्य व्यात्तमेव समित् प्राणो धूमो
वागर्चिश्चक्षुरङ्गाराः श्रोत्रं विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ
देवा अन्नं जुह्वति तस्या आहुत्यै रेतः सम्भवति ॥ १२॥

हे गौतम ! पुरुष ही अग्नि है। उसका खुला हुआ मुख ही ईंधन है, प्राण धुआं है, वाणी ज्वाला है, नेत्र अंगारे हैं, श्रोत्र चिंगारियां हैं। इस अग्नि में देवता अन्न को होमते हैं। उस आहुति से वीर्य होता है ॥१२॥

योषा वा आग्निर्गौतम । तस्या उपस्थ एव समिल्लोमानि धूमो योनिरर्चिर्यदन्तः करोति तेऽङ्गारा अभिनन्दा विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति तस्या आहुत्यै पुरुषः सम्भवति । स जीवति यावज्जीवत्यथ यदा म्रियते । १३॥

हे गौतम! स्त्री ही अग्नि है। उपस्थ ही उसकी ईंधन है, रोम धुआं है, योनि ज्वाला है, मैथुन क्रिया अंगारे है, आनन्द लेश चिंगारियां हैं। इस अग्नि में देवगण वीर्य होमते हैं, इस आहुति से पुरुष उत्पन्न होता है। वह जीवित रहता है, जब तक उसके कर्म शेष रहते हैं और फिर जब वह मर जाता है ॥१३॥

अथैनमग्नये हरन्ति । तस्याग्निरेवाग्निर्भवति समित्समिद् धूमो धूमोऽर्चिरर्चिरङ्गारा अङ्गारा विस्फुलिङ्गा विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः पुरुषं जुह्वति तस्या आहुत्यै पुरुषो भास्वरवर्णः सम्भवति ॥ १४॥

तब इसे अग्नि के पास ले जाते हैं। उस आहुतिभूत पुरुष का अग्नि ही अग्नि होता है, लकड़ी ही ईंधन होती है, धुआं ही धुआं होता है, ज्वाला ही ज्वाला होती है, अंगारे ही अंगारे होते हैं और चिंगारियां ही चिंगारियां होते हैं। इस अग्नि में देवगण पुरुष को होमते हैं। इस आहुति से पुरुष अत्यन्त दीप्तिमान् हो जाता है॥ १४॥

ते य एवमेतद्विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धाꣳ सत्यमुपासते तेऽर्चिरभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽहोऽह्न आपूर्यमाणपक्षं

आपूर्यमाणपक्षाद्यान्षण्मासानुदङ्ङादित्य एति मासेभ्यो देवलोकं देवलोकादादित्यमादित्याद्वैद्युतं तान्वैद्युतान्पुरुषो मानस एत्य ब्रह्मलोकान् गमयति ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति । तेषां न पुनरावृत्तिः ।

जो गृहस्थ इस प्रकार इस पञ्चाग्नि विद्या को जानते हैं तथा जो संन्यासी या वानप्रस्थ वन में श्रद्धायुक्त होकर सत्य ब्रह्म अर्थात् हिरण्यगर्भ की उपासना करते हैं, वे ज्योति के अभिमानी देवताओं को प्राप्त होते हैं, ज्योति के अभिमानी देवताओं से दिनके अभिमानी देवता को, दिन के अभिमानी देवता से शुक्ल पक्षाभिमानी देवता को और शुक्ल पक्षाभिमानी देवता से जिन छः महीनों में सूर्य उत्तरकी ओर रहकर चलता है उन उत्तरायण के छः महीनों के अभिमानी देवताओं को प्राप्त होते हैं। षण्मासाभिमानी देवताओं से देवलोकको, देवलोक से सूर्य को और सूर्य से विद्युत्सम्बन्धी देवताओं को प्राप्त होते हैं। उन वैद्युत देवों के पास एक मानस पुरुष आकर इन्हें ब्रह्मलोकों में ले जाता है। वे उन ब्रह्मलोकों में अनन्त वर्षों तक रहते हैं। उनकी पुनरावृत्ति नहीं होती। ॥ १५ ॥

अथ ये यज्ञेन दानेन तपसा लोकाञ्जयन्ति ते धूममभिसम्भवन्ति धूमाद्रात्रिꣳ, रात्रेरपक्षीयमाणपक्षं अपक्षीयमाणपक्षाद्यान्षण्मासान्दक्षिणादित्य एति मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकाच्चन्द्रं ते चन्द्रं प्राप्यान्नं भवन्ति ताꣳस्तत्र देवा यथा सोमꣳ राजानमाप्यायस्व अपक्षीयस्वेत्येवमेनाꣳस्तत्र भक्षयन्ति । तेषां यदा तत्पर्यवैत्यथेममेवाऽऽकाशमभिनिष्पद्यन्ते आकाशाद्वायुं वायोर्वृष्टिं वृष्टेः पृथिवीं ते पृथिवीं प्राप्यान्नं भवन्ति ते

पुनः पुरुषाग्नौ हूयन्ते ततो योषाग्नौ जायन्ते ते लोकान्प्रत्युथायिनस्त एवमेवानुपरिवर्तन्तेऽथ य एतौ पन्थानौ न विदुस्ते कीटाः पतङ्गा यदिदं दन्दशूकम् ॥ १६॥

और जो यज्ञ, दान, तप के द्वारा लोकों को जीतते हैं, वह धूमाभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं। धूम से रात्रि देवता को, रात्रि से अपक्षीयमाण पक्ष कृष्ण पक्षाभिमानी देवता को, अपक्षीयमाण पक्ष से जिन छः महीनोंमें सूर्य दक्षिण की ओर होकर जाता है, उन छः मास के देवताओं को, छ: मास के देवताओं से पितृलोक को और पितृलोक से चन्द्रमा को प्राप्त होते हैं। चन्द्रमा में पहुँचकर वे अन्न हो जाते हैं। वहाँ जैसे ऋत्विग्गण सोम राजा को 'आप्यायस्व अपक्षीयस्व' ऐसा कहकर चमस में भरकर पी जाते हैं, उसी प्रकार इन्हें देवगण भक्षण कर जाते हैं। जब उनके कर्म क्षीण हो जाते हैं, तो वे इस आकाशको ही प्राप्त होते हैं। आकाशसे वायु को, वायु से वृष्टि को और वृष्टि से पृथिवी को प्रास होते हैं। पृथिवी को प्राप्त होकर वे अन्न हो जाते हैं। फिर वे पुरुष रूप अग्नि में हवन किये जाते हैं। उससे वे लोक के प्रति उत्थान करने वाले होकर स्त्रीरूप अग्नि में उत्पन्न होते हैं। वे इसी प्रकार पुन:-पुन: परिवर्तित होते रहते हैं और जो इन दोनों मार्गों को नहीं जानते, वे कीट, पतंग और मक्खी -मच्छर इत्यादि होते हैं ॥ १६ ॥

॥ इति द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

॥ द्वितीय ब्राह्मण समाप्त ॥

॥ श्री हरि ॥

॥बृहदारण्यकोपनिषद॥

अथ षष्ठोऽध्यायः - तृतीयं ब्राह्मणम्

तृतीय ब्राह्मण

स यः कामयते महत्प्राप्नुयामित्युदगयन आपूर्यमाणपक्षस्य
पुण्याहे द्वादशाहमुपसद्व्रती भूत्वौदुम्बरे कꣳसे चमसे वा
सर्वौषधं फलानीति सम्भृत्य परिसमुह्य परिलिप्याग्निमुपसमाधाय
परिस्तीर्याऽऽवृताऽऽज्यꣳ सꣳस्कृत्य पुꣳसा नक्षत्रेण
मन्थꣳ सन्नीय जुहोति । यावन्तो देवास्त्वयि जातवेदस्तिर्यञ्चो
घ्नन्ति पुरुषस्य कामान् तेभ्योऽहं भागधेयं जुहोमि ते मा तृप्ताः
सर्वैः कामैस्तर्पयन्तु स्वाहा । या तिरश्ची निपद्यतेऽहं विधरणी
इति तां त्वा घृतस्य धारया यजे सꣳराधनीमहꣳ । स्वाहा ॥ १॥

जो यह चाहता हो कि मैं महत्त्व को प्राप्त करूँ, वह उत्तरायण में शुक्ल पक्ष को पुण्य तिथि पर बारह दिन उपसव्रती होकर गूलर की लकड़ी के कटोरे या चमस में औषधियां, फल तथा अन्य सामग्रियों को एकत्रित कर, जहाँ हवन करना हो उस स्थान को झाड, बुहार कर तथा लेप कर अग्नि-स्थापन करता है और फिर अग्नि के चारों ओर कुशा बिछाकर गृह्यसूत्रोक्त विधि से घृत का संस्कारकर जिसका नाम पुंल्लिङ्ग हो, उस हस्त आदि नक्षत्र में मन्थ (सामग्री

इत्यादि) को अपने और अग्नि के बीच में रखकर हवन करता है। हे जातवेदः ! तेरे वशवर्ती जितने देवता वक्रमति होकर पुरुषकी कामनाओं का प्रतिबन्ध करते हैं, उनके उद्देश्य से यह आज्यभाग मैं तुझमें हवन करता हूँ। वे तृप्त होकर मुझे समस्त कामनाओं से तृप्त करें-स्वाहा'। 'मैं सबकी मृत्यु को धारण करनेवाला हूँ' ऐसा समझकर जो कुटिल मति देवता तेरा आश्रय करके रहता है, सर्वसाधनों की पूर्ति करनेवाले उस देवताके लिये मैं घी को धारा से यजन करता हूँ-स्वाहा॥१॥

ज्येष्ठाय स्वाहा श्रेष्ठाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे
सꣳस्रवमवनयति । प्राणाय स्वाहा वसिष्ठायै स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा
मन्थे सꣳस्रवमवनयति । वाचे स्वाहा प्रतिष्ठायै स्वाहेत्यग्नौ
हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति । चक्षुषे स्वाहा सम्पदे स्वाहेति
अग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति । श्रोत्राय स्वाहाऽऽयतनाय
स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति । मनसे स्वाहा प्रजात्यै
स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति । रेतसे स्वाहेति अग्नौ
हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति ॥ २॥

'ज्येष्ठाय स्वाहा श्रेष्ठाय स्वाहा' इस मन्त्र से अग्नि में हवन करके सुवा में बचे हुए घृत को मन्थ में डाल देता है।

'प्राणाय स्वाहा, वसिष्ठायै स्वाहा' इस मन्त्र से अग्निमें हवन करके सुवा में बचे हुए घृत को मन्थ में डाल देता है।

'वाचे स्वाहा प्रतिष्ठायै स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके सुवा में बचे हुए घृत को मन्थमें डाल देता है।

'चक्षुषे स्वाहा सम्पदे स्वाहा' इस मन्त्र से अग्नि में हवन करके सुवा में बचे हुए घृत को मन्थ में डाल देता है।

श्रोत्राय स्वाहा आयतनाय स्वाहा' इस मन्त्र से अग्नि में हवन करके सुवा में बचे हुए घृत को मन्थ में डाल देता है।

'मनसे स्वाहा प्रजात्यै स्वाहा' इस मन्त्र से अग्नि में हवन करके सुवा में बचे हुए घृत को मन्थ में डाल देता है।

'रेतसे स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्नि में हवन करके सुवा में बचे हुए घृत को मन्थ में डाल देता है॥ २॥

अग्नये स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति । सोमाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति । भूः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति । भुवः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति । स्वः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति । भूर्भुवः स्वः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति । ब्रह्मणे स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति । क्षत्राय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति । भूताय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति । भविष्यते स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति । विश्वाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति । सर्वाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे

सꣳस्रवमवनयति । प्रजापतये स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति ॥ ३॥

'अग्नये स्वाहा' इस मन्त्र से अग्नि में हवन करके सुवा में बचे हुए घृत को मन्थ में डाल देता है।

'सोमाय स्वाहा' इस मन्त्र से अग्नि में हवन करके सुवा में बचे हुए घृत को मन्थ में डाल देता है।

'भू: स्वाहा' इस मन्त्र से अग्नि में हवन करके सुवा में बचे हुए घृत को मन्थ में डाल देता है।

'भुव: स्वाहा' इस मन्त्र से अग्नि में हवन करके सुवा में बचे हुए घृत को मन्थ में डाल देता है।

स्वः स्वाहा' इस मन्त्र से अग्नि में हवन करके सुवा में बचे हुए घृत को मन्थ में डाल देता है।

भूर्भुव: स्व: स्वाहा इस मन्त्र से अग्नि में हवन करके सुवा में बचे हुए घृत को मन्थमें डाल देता है।

ब्रह्मणे स्वाहा' इस मन्त्र से अग्नि में हवन करके सुवा में बचे हुए घृत को मन्थ में डाल देता है।

'क्षत्राय स्वाहा' इस मन्त्र से अग्नि में हवन करके सुवा में बचे हुए घृत को मन्थ में डाल देता है।

'भूताय स्वाहा' इस मन्त्र से अग्नि में हवन करके सुवा में बचे हुए घृत को मन्थ में डाल देता है।

भविष्यते स्वाहा' इस मन्त्र से अग्नि में हवन करके सुवा में बचे हुए घृत को मन्थ में डाल देता है।

विश्वाय स्वाहा' इस मन्त्र से अग्नि में हवन करके सुवा में बचे हुए घृत को मन्थ में डाल देता है।

'सर्वाय स्वाहा' इस मन्त्र से अग्नि में हवन करके सुवा में बचे हुए घृत को मन्थ में डाल देता है।

प्रजापतये स्वाहा' इस मन्त्र से अग्नि में हवन करके सुवा में बचे हुए घृत को मन्थ में डाल देता है॥३॥

अथैनमभिमृशति भ्रमदसि ज्वलदसि
पूर्णमसि प्रस्तब्धमस्येकसभमसि हिङ्कृतमसि
हिङ्क्रियमाणमस्युद्गीथमस्युद्गीयमानमसि श्रावितमसि
प्रत्याश्रावितमस्यर्द्रे सन्दीप्तमसि विभूरसि प्रभूरस्यन्नमसि
ज्योतिरसि निधनमसि संवर्गोऽसीति ॥ ४॥

इसके पश्चात् उस मन्थ को 'भ्रमदसि' इत्यादि मन्त्र द्वारा स्पर्श करता है। मन्थ द्रव्य का अधिष्ठातृ देव प्राण है, इसलिये प्राण से एकरूप होनेके कारण वह सर्वात्मक है 'भ्रमदसि' इत्यादि मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है- तू [प्राण रूप से सम्पूर्ण देहों में भ्रमनेवाला है, अग्निरूप से

सर्वत्र प्रचलित होने वाला है, ब्रह्मरूप से पूर्ण है, आकाश रूप से अत्यन्त स्तब्ध (निष्कम्प) है, सबसे अविरोधी होनेके कारण तू यह जगद्रूप एक सभाके समान है, तू ही यज्ञ के आरम्भ में प्रस्तोता के द्वारा हिकृत है, तथा उसी प्रस्तोता द्वारा यज्ञ में तू ही हिङ्क्रियमाण है, यज्ञारम्भ में उद्गाता द्वारा तू ही उच्च स्वर से गाया जानेवाला उद्गीथ है और यज्ञके मध्य में उसके द्वारा तू ही उद्गीयमान है। तू ही अध्वर्यु द्वारा श्रावित और आग्नीध्र द्वारा] प्रत्याश्रावित है; आर्द्र अर्थात् मेघ में सम्यक् प्रकार से दीप्त है, तू विभु (विविध रूप होनेवाला) है और प्रभु (समर्थ) है, तू भोक्ता अग्नि रूप से ज्योति है, कारण रूप से सबका प्रलयस्थान है तथा सबका संहार करनेवाला होने से संवर्ग है ॥४॥

अथैनमुद्यच्छत्यमꣳस्यामꣳ हि ते महि । स हि
राजेशानोऽधिपतिः स माꣳ राजेशनोऽधिपतिं करोत्विति ॥ ५॥

फिर 'आमंसि आमंहि' इत्यादि मन्त्र से इसे ऊपर उठाता है। इस मन्त्रका अर्थ- 'आमंसि' तू सब जानता है, 'आमंहि ते महि'-मैं तेरी; महिमाको अच्छी तरह जानता हूँ। वह प्राण राजा, ईशान और अधिपति है। वह मुझे राजा, ईशान और अधिपति करे॥५॥

अथैनमाचामति तत्सवितुर्वरेण्यम् । मधु वाता ऋतायते मधु
क्षरन्ति सिन्धवः । माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः । भूः स्वाहा । भर्गो
देवस्य धीमहि मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवꣳ रजः । मधु
द्यौरस्तु नः पिता । भुवः स्वाहा । धियो यो नः प्रचोदयात् । मधुमान्नो
वनस्पतिर्मधुमाꣳ अस्तु सूर्यः । माध्वीर्गावो भवन्तु नः । स्वः

स्वाहेति । सर्वां च सावित्रीमन्वाह सर्वाश्च मधुमतीरहमेवेदꣳ सर्वं भूयासम् । भूर्भुवः स्वः स्वाहेत्यन्तत आचम्य पाणी प्रक्षाल्य जघनेनाग्निं प्राक्शिराः संविशति । प्रातरादित्यमुपतिष्ठते दिशामेकपुण्डरीकमसि अहं मनुष्याणामेकपुण्डरीकं भूयासमिति । यथेतमेत्य जघनेनाग्निमासीनो वꣳशं जपति ॥ ६॥

इसके पश्चात् 'तत्सवितुर्वरेण्यम्' इत्यादि मन्त्रसे इस मन्थ को भक्षण करता है। तत्सवितुः इत्यादि मन्त्रका अर्थ

तत्सवितुर्वरेण्यम्'-सूर्य के उस वरेण्य श्रेष्ठ पदका मैं ध्यान करता हूँ।

'वातामधु ऋतायते'-हवा मधुर मन्द गतिसे बह रही है।

'सिन्धवः मधु क्षरति'- नदियाँ मधुरस का स्राव कर रही हैं।

'न: ओषधी: माध्वी: सन्तु'-हमारे लिये ओषधियाँ मधुर हों। '

भूः स्वाहा:' इतने अर्थवाले मन्त्र से मन्थ का पहला ग्रास भक्षण करे।

'देवस्य भर्ग: धीमहि'-हम सवितादेव के तेजका ध्यान करते हैं। '

नक्तमुत उषस: मधु'-रात्र और दिन सुखकर हों।

'पार्थिव रजः मधुमत्'-पृथिवीके धूलिकण उद्वेग न करनेवाले हों। '

द्यौः पिता न मधु अस्तु'-पिता द्युलोक हमारे लिये सुखकर हो।

'भुवः स्वाहा'-इतने अर्थवाले मन्त्र से दूसरा ग्रास भक्षण करे।

'यः नः धियः प्रचोदयात्'-जो सवितादेव हमारी बुद्धियोंको प्रेरित करता है।

न: वनस्पतिः मधुमान्'-हमारे लिये वनस्पति (सोम) मधुर रसमय हो।

'सूर्य: मधुमान् अस्तु'–सूर्य हमारे लिये मधुमान् हो।

'गावः नः माध्वी: भवन्तु'-किरणे अथवा दिशाएँ हमारे लिये सुखकर हों।

'स्व: स्वाहा' - इतने अर्थ वाले मन्त्रसे तृतीय ग्रास भक्षण करे।

इसके पश्चात् सम्पूर्ण सावित्री (गायत्रीमन्त्र) 'मधु वाता त्रतायते' इत्यादि समस्त मधुमती ऋचा और 'अहमेवेदं सर्वं भूयासम्' (यह सब मैं ही हो जाऊँ) 'भूर्भुवः स्वाहा' इस प्रकार कहकर अन्तमें समस्त मन्थको भक्षण कर दोनों हाथ धो अग्नि के पश्चिम भाग में पूर्व की ओर सिर करके बैठता है। प्रात:कालमें दिशामेकपुण्डरीकमस्यह--भूयासम्" इस मन्त्रद्वारा आदित्य का उपस्थान (नमस्कार) करता है। फिर जिस मार्गसे गया होता है, उसीसे लौटकर अग्नि के पश्चिम भागमें बैठकर आगे कहे जानेवाले]वंश को जपता है॥६॥

तꣳ हैतमूद्दालक आरुणिर्वाजसनेयाय याज्ञवल्क्यायान्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एनꣳ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज् शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेत् जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥ ७॥

इस मन्थ का उद्दालक आरुणि ने अपने शिष्य वाजसनेय याज्ञवल्क्य को उपदेश करके कहा था, 'यदि कोई इस मन्थ को सूखे ढूँठ पर

डाल देगा तो उससे शाखाएँ उत्पन्न हो जायेंगी और पत्ते निकल आयेंगे'॥७॥ उस इस मन्थ का उद्दालक आरुणिने अपने शिष्य वाजसनेय याज्ञवल्क्यको उपदेश करके कहा था, 'यदि कोई इस मन्थ को सूखे ढूँठ पर डाल देगा तो उससे शाखाएँ उत्पन्न हो जायेंगी और पत्ते निकल आयेंगे'॥७॥

एतमु हैव वाजसनेयो याज्ञवल्क्यो मधुकाय पैङ्ग्यायान्तेवासिन
उक्त्वोवाचापि य एनꣳ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज् स्थाणौ निषिञ्चेत्
जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥ ८॥

इस मन्थ का वाजसनेय याज्ञवल्क्य ने अपने शिष्य मधुक पैङ्ग्य को उपदेश करके कहा था, 'यदि कोई इसे सूखे ढूँठपर डाल देगा तो उसमें शाखाएँ उत्पन्न हो जायेंगी और पत्ते निकल आयेंगे'॥८॥

एतमु हैव मधुकः पैङ्ग्यश्चूलाय भागवित्तयेऽन्तेवासिन
उक्त्वोवाचापि य एनꣳ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज् जायेरञ्छाखाः
प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥ ९॥

इस मन्थ का मधुक पैङ्ग्य ने अपने शिष्य चूल भागवित्ति को उपदेश करके कहा था, 'यदि कोई इसे सूखे ढूँठपर डाल देगा तो उसमें शाखाएँ उत्पन्न हो जायेंगी और पत्ते निकल आयेंगे'॥९॥

एतमु हैव चूलो भागवित्तिर्जानकय आयस्थूणायान्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य
एनꣳ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज् यसेनम् शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेत्
जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥ १०॥

इस मन्थ का चूल भागवित्ति ने अपने शिष्य जानकि आयस्थूण को उपदेश करके कहा था, 'यदि कोई इसे सूखे ढूँठपर डाल देगा तो उसमें शाखाएँ उत्पन्न हो जायँगी और पत्ते निकल आयेंगे' ॥१०॥

एतमु हैव जानकिरयस्थूणः सत्यकामाय जाबालायान्तेवासिन उक्त्वोवाचापि
य एनꣳ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज् जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः
पलाशानीति ॥ ११॥

इस मन्थ का जानकि आयस्थूण ने अपने शिष्य सत्यकाम जाबाल को उपदेश करके कहा था, 'यदि कोई इसे सूखे ढूँठपर डाल देगा तो उसमें शाखाएँ उत्पन्न हो जायेंगी और पत्ते निकल आयेंगे'॥ ११॥

एतमु हैव सत्यकामो जाबालोऽन्तेवासिभ्य उक्त्वोवाचापि य एनꣳ
शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज् जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ।
तमेतं नापुत्राय वाऽनन्तेवासिने वा ब्रूयात् ॥ १२॥

इस मन्थ का सत्यकाम जाबाल ने अपने शिष्यों को उपदेश करके कहा था, 'यदि कोई इसे सूखे ढूँठपर डाल देगा तो उसमें शाखाएँ

उत्पन्न हो जायँगी और पत्ते निकल आयेंगे।' उस इस मन्थ का जो पुत्र या शिष्य न हो, उसे उपदेश न करे ॥ १२ ॥

चतुरौदुम्बरो भवत्यौदुम्बरः स्रुव औदुम्बरश्चमस औदुम्बर इध्म औदुम्बर्या उपमन्थन्यौ । दश ग्राम्याणि धान्यानि भवन्ति व्रीहियवास्तिलमाषा अणुप्रियङ्गवो गोधूमाश्च मसूराश्च खल्वाश्च खलकुलाश्च तान्पिष्टान्दधनि मधुनि घृत उपसिञ्चत्याज्यस्य जुहोति ॥ १३॥

यह मन्थ कर्म में चार वस्तुएं गूलर की लकड़ी की होती हैं। इसमें गूलर की लकड़ी का स्रुवा, गूलर की लकड़ी का चमस, गूलर की लकड़ी का ईंधन और गूलर की लकड़ी की दो उपमन्थनी (रगड़ने वाले लकड़ियाँ) होती हैं। इसमें व्रीहि (धान), यव, (जौ), तिल, माष (उड़द), अणु (साँवा), प्रियङ्गु (काँगनी), गोधूम (गेहूँ), मसूर, खल्व (बाल) और खलकुल (कुलथी)-दस ग्रामीण अन्न उपयुक्त होते हैं। उन्हें पीसकर दही, मधु और घृत में मिलाकर घृत से हवन होता है।॥ १३ ॥

॥ इति तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

॥ तृतीय ब्राह्मण समाप्त ॥

॥ श्री हरि ॥

॥बृहदारण्यकोपनिषद॥

अथ षष्ठोऽध्यायः - चतुर्थ ब्राह्मणम्

चौथा ब्राह्मण

एषां वै भूतानां पृथिवी रसः पृथिव्या आपोऽपामोषधय
ओषधीनां पुष्पाणि पुष्पाणां फलानि फलानां पुरुषः पुरुषस्य रेतः
॥१॥

इन प्राणियों का रस (आधार अथवा सार) पृथिवी है, पृथिवी का रस जल है, जल का रस ओषधियाँ हैं, ओषधियों का रस पुष्प है, पुष्पों का रस फल है, फलों का रस पुरुष है तथा पुरुष का रस शुक्र है॥१॥

स ह प्रजापतिरीक्षांचक्रे हन्तास्मै प्रतिष्ठां कल्पयानीति स
स्त्रियꣳ ससृजे । ताꣳ सृष्ट्वाऽध उपास्त तस्मात्स्त्रियमध
उपासीत स एतं प्राञ्चं ग्रावाणमात्मन एव समुदपारयत्
तेनैनामभ्यसृजत् ॥ २॥

सुप्रसिद्ध प्रजापति ने विचार किया कि मैं इस वीर्य की स्थापना के लिये किसी योग्य प्रतिष्ठा (आधार भूमि) का निर्माण करूँ, अत: उन्होंने स्त्री की सृष्टि की। उसकी सृष्टि करके उन्होंने उसके

अधोभाग की उपासना की अर्थात मैथुनक्रिया का विधान किया। प्रजापति ने इस उत्कृष्ट गतिशील प्रस्तर खण्ड-सदृश शिश्नेन्द्रिय को उत्पन्न करके उसे स्त्री की ओर प्रेरित किया, इससे उस स्त्री का संसर्ग किया।॥ १३ ॥

तस्या वेदिरुपस्थो लोमानि बर्हिश्चर्माधिषवणे समिद्धो मध्यतस्तौ मुष्कौ । स यावान्ह वै वाजपेयेन यजमानस्य लोको भवति तावानस्य लोको भवति य एवं विद्वानधोपहासं चरत्यासाꣳ स्त्रीणाꣳ सुकृतं वृङ्क्तेऽथ य इदमविद्वानधोपहासं चरत्याऽस्य स्त्रियः सुकृतं वृञ्जते ॥ ३॥

स्त्री की उपस्थेन्द्रिय वेदी है, वहाँ के रोएँ कुशा हैं, योनि का मध्यभाग प्रज्वलित अग्नि है, योनि के पार्श्वभागमें जो दो कठोर मांसखण्ड हैं उनको मुष्क कहते हैं, वे दोनों मुष्क ही 'अधिषवण' नामसे प्रसिद्ध चर्ममय सोमफलक हैं। वाजपेय यज्ञ करने से यजमान को जितना पुण्यलोक प्राप्त होता है, उतना ही उसे भी प्राप्त होता है। जो कि इस प्रकार जानकर मैथुन का आचरण करता है, वह इन स्त्रियों के पुण्यको अवरुद्ध कर लेता है और जो इसे नहीं जानता है, वह यदि मैथुन करता है तो स्त्रियाँ ही उसके पुण्य को अवरुद्ध कर लेती हैं ॥ ३॥

एतद्ध स्म वै तद्विद्वानुद्दालक आरुणिराहैतद्ध स्म वै तद्विद्वान्नाको मौद्गल्य आहैतद्ध स्म वै तद्विद्वान् कुमारहारित आह एतद् ध स्म वै तद् विद्वान् कुमारहारितसाह बहवो मर्या ब्राह्मणायना निरिन्द्रिया

विसुकृतोऽस्माल्लोकात्प्रयन्ति य इदमविद्वा॰सोऽधोपहासं चरन्तीति ।
बहु वा इद॰ सुप्तस्य वा जाग्रतो वा रेतः स्कन्दति ॥ ४॥

निश्चय ही इस मैथुनकर्म को वाजपेय सम्पन्न जाननेवाले अरुणनन्दन उद्दालक कहते हैं, इसे उस रूप में जाननेवाले मुद्गलपुत्र नाक कहते हैं तथा इसे उक्त रूपमें जाननेवाले कुमारहारित मुनि भी कहते हैं कि 'बहुत-से ऐसे मरणधर्मा नाममात्र के ब्राह्मण हैं, जो निरिन्द्रिय, सुकृतहीन और मैथुन-विज्ञान से अपरिचित होकर भी मैथुनकर्म में आसक्ति पूर्वक प्रवृत्त होते हैं, वे परलोक से भ्रष्ट हो जाते हैं। यदि पत्नी का ऋतुकाल प्राप्त होनेसे पूर्व इस प्राणोपासक का वीर्य अधिक या कम सोते समय अथवा जागते समय गिर जाता है तो उसे निम्नाङ्कित प्रायश्चित्त करना चाहिये ॥४॥

तदभिमृशेदनु वा मन्त्रयेत यन्मेऽद्य रेतः पृथिवीमस्कान्त्सीद्
यदोषधीरप्यसरद् यदपः । इदमहं तद्रेत आददे
पुनर्मामैत्विन्द्रियं पुनस्तेजः पुनर्भगः । पुनरग्निर्धिष्ण्या
यथास्थानं कल्पन्तामित्यनामिकाङ्गुष्ठाभ्यामादायान्तरेण स्तनौ वा
भ्रुवौ वा निमृज्यात् ॥ ५॥

उस वीर्य को हाथसे छूए तथा अभिमन्त्रित करे-स्पर्श करते समय इस प्रकार कहे-'आज जो मेरा वीर्य स्खलित होकर पृथिवी पर गिरा है, जो पहले कभी अन्न में भी गिरा है तथा जो जलमें पड़ा है उस इस

वीर्यको मैं ग्रहण करता हूँ।' ऐसा कहकर अनामिका और अंगूठे से उस वीर्यको ग्रहण करके दोनों स्तनों अथवा भौंहों के बीचमें लगावे। लगाते समय इस प्रकार कहे- जो स्खलित वीर्य रूप से बाहर निकल गयी थी, वह मेरी इन्द्रिय पुनः मेरे पास लौट आवे। मुझे पुनः तेज और पुन: सौभाग्य की प्राप्ति हो। अग्नि ही जिनके स्थान हैं, वे देवगण पुनः मेरे शरीरमें उस वीर्य को यथास्थान स्थापित करे दें।॥५॥

अथ यद्युदक आत्मानं पश्येत् तदभिमन्त्रयेत मयि तेज इन्द्रियं यशो द्रविणꣳ सुकृतमिति । श्रीर्ह वा एषा स्त्रीणां यन्मलोद्वासास्तस्मान्मलोद्वाससं यशस्विनीमभिक्रम्योपमन्त्रयेत ॥ ६॥

यदि कभी भूल से जल में वीर्य स्खलित हो जाने पर वहाँ अपनी परछाईं देख ले, तब उस जल को इस प्रकार अभिमन्त्रित करे– 'देवगण मुझमें तेज, इन्द्रिय (वीर्य), यश, धन और सत्कर्म की प्रतिष्ठा करें।' तत्पश्चात् जिसके गर्भ से पुत्र उत्पन्न करना हो उस पत्नी की इस प्रकार स्तुति (प्रशंसा) करे- यह मेरी पत्नी संसार की समस्त स्त्रियों में लक्ष्मीस्वरूपा है; क्योंकि इसके वस्त्र में रजस्वलापनके चिह्न स्पष्ट दिखायी देते हैं।' तदनन्तर जब वह रजस्वला एवं यशस्विनी पत्नी तीन रात के बाद स्नान कर ले तब उस के पास जाकर कहे आज हम दोनोंको वह कार्य करना है, जिससे पुत्र की उत्पत्ति होती है। ॥ ६ ॥

सा चेदस्मै न दद्यात् काममेनामवक्रिणीयात् सा चेदस्मै नैव दद्यात् काममेनां यष्ट्या वा पाणिना वोपहत्यातिक्रामेदिन्द्रियेण ते यशसा यश आदद इत्ययशा एव भवति ॥ ७॥

पत्नी यदि पति को मैथुन न करने दे तो पति उसे उसकी इच्छा के अनुसार वस्त्र, आभूषण आदि देकर उसके प्रति अपना प्रेम प्रकट करे। इतने पर भी यदि वह मैथुन का अवसर न दे तो वह पति इच्छानुसार दण्ड का भय दिखाकर उसके साथ समागम करे। यदि यह भी सम्भव न हो तो कहे 'मैं तुझे शाप देकर दुर्भगा बना दूंगा।' ऐसा कहकर वह उसके निकट जाय और 'मैं अपनी यशः-स्वरूप इन्द्रियद्वारा तेरे यशको छीने लेता हूँ।' इस मन्त्रका उच्चारण करे। इस प्रकार शाप देनेपर वह अयशस्विनी दुर्भगा हो ही जाती है ॥७॥

सा चेदस्मै दद्यादिन्द्रियेण ते यशसा यश आदधामीति यशस्विनावेव भवतः ॥ ८॥

पत्नी यदि पति को मैथुन का अवसर दे तो उसे आशीर्वाद देते हुए कहे-मैं अपनी यशोरूप इन्द्रिय द्वारा तुझमें यश की ही स्थापना करता हूँ।' तब वे दोनों दम्पति यशस्वी ही होते हैं। ॥८॥

स यामिच्छेत् कामयेत मेति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखꣳ सन्धायोपस्थमस्या अभिमृश्य जपेदङ्गादङ्गात्सम्भवसि हृदयादधिजायसे । स त्वमङ्गकषायोऽसि दिग्धविद्धमिव मादयेमाममूं मयीति ॥ ९॥

वह पुरुष अपनी जिस पत्नीके सम्बन्धमें ऐसी इच्छा करे कि यह मुझे हृदयसे चाहे, उसकी योनि में अपनी जननेन्द्रिय को स्थापित करके

और अपने मुख से उसके मुख को मिलाकर उसके उपस्थभाग का स्पर्श करते हुए इस मन्त्रका जप करे-'हे वीर्य! तुम मेरे प्रत्येक अंग में प्रकट होते हो, विशेषतः हृदय से नाड़ीद्वारा तुम्हारा प्रादुर्भाव होता है, तुम मेरे अंगों के रस हो। अत: जिस प्रकार विष लगाये हुए बाण से घायल हुई हरिणी मूच्छित हो जाती है, उसी प्रकार तुम मेरी इस पत्नी को मेरे प्रति उन्मत्त बना दो-इसे मेरे अधीन कर दो'॥ ९॥

अथ यामिच्छेन् न गर्भं दधीतेति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखꣳ सन्धायाभिप्राण्यापान्यादिन्द्रियेण ते रेतसा रेत आदद इत्यरेता एव भवति ॥ १०॥

अपनी जिस पत्नीके विषय में ऐसी इच्छा हो कि वह गर्भधारण न करे तो उसकी योनिमें अपनी जननेन्द्रियको स्थापित करके उसके मुखसे अपना मुख मिलाकर अभिप्राणन कर्म करके अपानन क्रिया करे और कहे-'इन्द्रिय स्वरूप वीर्य के द्वारा मैं तेरे रेतस् को ग्रहण करता हूँ', ऐसा करनेपर वह रेतोहीन ही हो जाती है-गर्भिणी नहीं होती ॥१०॥

अथ यामिच्छेद् दधीतेति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखꣳ सन्धायापान्याभिप्राण्यादिन्द्रियेण ते रेतसा रेत आदधामीति गर्भिण्येव भवति ॥ ११॥

पुरुष को अपनी जिस पत्नी के सम्बन्ध में ऐसी इच्छा हो कि यह गर्भ धारण करे, वह उसकी योनि में अपनी जननेन्द्रिय स्थापित करके

उसके मुख से मुख मिलाकर पहले अपानन क्रिया करके पश्चात् अभिप्राणन कर्म करे और कहे-'मैं इन्द्रियरूप वीर्य के द्वारा तेरे रेतस् का आधान करता हूँ।' ऐसा करनेसे वह गर्भवती ही होती है॥११॥

अथ यस्य जायायै जारः स्यात् तं चेद् द्विष्यादामपात्रेऽग्निमुपसमाधाय प्रतिलोमꣳ शरबर्हिस्तीर्त्वा तस्मिन्नेताः शरभृष्टीः प्रतिलोमाः सर्पिषाऽक्ता जुहुयान् मम समिद्धेऽहौषीः प्राणापानौ त आददेऽसाविति । मम समिद्धेऽहौषीः पुत्रपशूꣳस्त आददे ऽसाविति । मम समिद्धेऽहौषीरिष्टासुकृते त आददेऽसाविति । मम समिद्धेऽहौषीराशापराकाशौ त आददेऽसाविति । स वा एष निरिन्द्रियो विसुकृतोऽस्माल्लोकात्प्रैति यमेवंविद्ब्राह्मणः शपति । तस्मादेवंवित्छ्रोत्रियस्य दारेण नोपहासमिच्छेदुत ह्येवंवित्परो भवति ॥ १२॥

जिस गृहस्थ विद्वान की पत्नी का किसी जार पुरुष से सम्बन्ध हो, वह पति उस जार से द्वेषभाव रखकर उसे दण्ड देना चाहे तो वह मिट्टी के कच्चे बर्तन में पञ्चभूसंस्कार पूर्वक अग्नि-स्थापन करके विपरीत क्रम से अर्थात् दक्षिणाग्र या पश्चिमाग्रभाव से सरकंडोंका बर्हिष बिछाकर उनकी बाणाकार सींकों को घी से भिगोकर उनके अग्रभाग को विपरीत दिशा में ही रखते हुए उस अग्नि में उनकी चार आहुतियाँ दे। उन आहुतियोंके मन्त्र इस प्रकार हैं-] 'मम समिद्धेऽहौषी: प्राणापानौ त आददे' यह मन्त्र पढ़कर 'फट' शब्द का उच्चारण करके पहली आहुति दे, आहुतिके अन्त में 'असौ मम शत्रु:' इस प्रकार बोलकर शत्रुका नाम लेना चाहिये। पूर्ववत् 'मम समिद्धेहोषी: पुत्रपयूँस्त आददे' यह मन्त्र बोलकर दूसरी आहुति दे और अन्तमें

'असौ-' कहकर शत्रुका नाम ले। इसी प्रकार 'मम समिद्धेऽहौषीरिष्टासुकृते त आददे' यह मन्त्र बोलकर तीसरी आहुति दे और अन्तमें 'असौ' कहकर शत्रुका नाम ले तथा 'मम समिद्धेऽहौषीराशापराकाशौ त आददे' यह मन्त्र पढ़कर चौथी आहुति दे और पूर्ववत् 'असौ' कहकर शत्रु के नाम का उच्चारण करे। इस प्रकार मन्थ कर्म को जाननेवाला प्राणदर्शी विद्वान् ब्राह्मण जिसको शाप देता है, वह इन्द्रियरहित एवं पुण्यहीन होकर इस लोक से चल बसता है। अत: परस्त्रीगमन के इस भयंकर परिणामको जाननेवाला पुरुष किसी श्रोत्रिय की पत्नी से सम्भोग की तो बात ही क्या है, परिहास की भी इच्छा न करे; क्योंकि उक्त अभिचार कर्म को जाननेवाला श्रोत्रिय उसका शत्रु बन जाता है ॥ १२॥

अथ यस्य जायामार्तवं विन्देत् त्र्यहं कꣳसे न पिबेदहतवासा
नैनां वृषलो न वृषल्युपहन्यात् अपहन्यात् त्रिरात्रान्त आप्लुत्य
व्रीहीनवघातयेत् ॥ १३॥

जिसकी पत्रीको ऋतुभाव (रजोधर्म) प्राप्त हो, उसकी वह पत्नी तीन दिनों तक कांसे के बर्तनों में न खाय और चौथे दिन स्नान के बाद ऐसा वस्त्र पहने फटा न हो, साफ-सुथरा हो। इसे कोई शूद्रजातीय स्त्री या पुरुष न छुए। वह रजस्वला नारी जब तीन दिन बीतनेपर स्नान कर ले तो उसे धान कूटने के काम में लगावे॥१३॥

स य इच्छेत् पुत्रो मे शुक्लो जायेत वेदमनुब्रुवीत सर्वमायुरियादिति
क्षीरौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ॥ १४॥

जो पुरुष चाहता हो कि मेरा पुत्र शुक्ल वर्णका हो, एक वेदका अध्ययन करे और पूरे सौ वर्षों की आयुतक जीवित रहे, उस दशामें वे दोनों पति-पत्नी दूध और चावलको पकाकर खीर बना लें और उसमें घी मिलाकर खायें। इससे वे उपर्युक्त योग्यतावाले पुत्रको उत्पन्न करनेमें समर्थ होते हैं ॥ १४॥

अथ य इच्छेत् पुत्रो मे कपिलः पिङ्गलो जायेत द्वौ वेदावनुब्रुवीत सर्वमायुरियादिति दध्योदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ॥ १५॥

जो चाहे कि मेरा पुत्र कपिल या पिङ्गल वर्णका हो, दो वेदों का अध्ययन करे और पूरे सौ वर्षों तक जीवित रहे तो वह और उसकी पत्नी दही के साथ भात पकाकर उसमें घी मिलाकर खायें। इससे वे वैसे पुत्र को जन्म देने में समर्थ होते हैं ॥१५॥

अथ य इच्छेत् पुत्रो मे श्यामो लोहिताक्षो जायेत त्रीन्वेदाननुब्रुवीत सर्वमायुरियादित्युदौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ॥ १६॥

जो चाहे कि मेरा पुत्र श्याम वर्ण, अरुण नयन हो, तीन वेदों का स्वाध्याय करे तथा पूरे सौ वर्षों तक जीवित रहे, वह और उसकी पत्नी केवल जल में चावल पकाकर भात तैयार कर लें और उसमें घी मिलाकर खायें। इससे वे उक्त योग्यता वाले पुत्र को जन्म देने में समर्थ होते हैं ॥ १६॥

अथ य इच्छेद् दुहिता मे पण्डिता जायेत सर्वमायुरियादिति तिलौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ॥ १७॥

जो चाहता हो कि मेरी पुत्री विदुषी हो और पूरे सौ वर्षों की आयुतक जीवित रहे, वह और उसकी पत्नी तिल और चावल की खिचड़ी पकाकर उसमें घी मिलाकर खायें। इससे वे उक्त योग्यतावाली कन्या को जन्म देने में समर्थ होते हैं।॥ १७॥

अथ य इच्छेत् पुत्रो मे पण्डितो विगीतः समितिङ्गमः शुश्रूषितां वाचं भाषिता जायेत सर्वान्वेदाननुब्रुवीत सर्वमायुरियादिति माꣳसौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै । औक्षेण वाऽऽर्षभेण वा ॥ १८॥

जो चाहता हो कि मेरा पुत्र प्रख्यात पण्डित, विद्वानों की सभामें निर्भय प्रवेश करनेवाला तथा श्रवणसुखद वाणी बोलनेवाला हो, सम्पूर्ण वेदों का स्वाध्याय करे और पूरे सौ वर्षों तक जीवित रहे, वह पुरुष और उसकी पत्नी ओषधियों का गूदा और चावल पकाकर उसमें घी मिलाकर खायें। इससे वे उक्त योग्यतावाले पुत्रको जन्म देने में समर्थ होते हैं। उक्षा अथवा ऋषभ नामक ओषधि के गूदेके साथ खानेका नियम है ॥ १८॥

अथाभिप्रातरेव स्थालीपाकावृताऽऽज्यं चेष्टित्वा स्थालीपाकस्योपघातं जुहोत्यग्नये स्वाहाऽनुमतये स्वाहा देवाय सवित्रे

सत्यप्रसवाय स्वाहेति हुत्वोद्धृत्य प्राश्नाति । प्राश्येतरस्याः प्रयच्छति । प्रक्षाल्य पाणी उदपात्रं पूरयित्वा तेनैनां त्रिरभ्युक्षत्युत्तिष्ठातो विश्वावसोऽन्यामिच्छ प्रपूर्व्यां॰ सं जायां पत्या सहेति ॥ १९॥

तदनन्तर चौथे दिन प्रात:काल ही संध्या आदि का अनुष्ठान करके पत्नी के कूटे हुए चावलों को लेकर स्थालीपाक की विधिसे घी का संस्कार करके चरु पकाकर उसका भी संस्कार करके स्थालीपाक के अन्न में से थोड़ा-थोड़ा लेकर प्रधान आहुतियाँ दे, उनके मन्त्र इस प्रकार हैं-'अग्नये स्वाहा, अनुमतये स्वाहा, देवाय सवित्रे सत्यप्रसवाय स्वाहा'। इस प्रकार आहुति देकर 'स्विष्टकृत्' होम करके स्थाली में बचे हुए चरु को एक पात्र में निकालकर उसमें घी मिलाकर पहले पति उस अन्न को खाता है। खाकर उसी उच्छिष्ट अन्न को अपनी पत्नी के लिये देता है। तत्पश्चात् हाथ-पैर धोकर शुद्ध आचमन करके जलपात्र को भरकर उसी जल से अपनी पत्नी का तीन बार अभिषेक करे। अभिषेक का मन्त्र इस प्रकार है-'उत्तिष्ठातो विश्वावसोऽन्यामिच्छ प्रपू संजायां पत्या सह' ॥ १९ ।।

अथैनामभिपद्यतेऽमोऽहमस्मि सा त्व॰ सा त्वमस्यमोऽह॰ सामाहमस्मि ऋक्त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वम् । तावेहि स॰रभावहै सह रेतो दधावहै पु॰से पुत्राय वित्तय इति ॥ २०॥

तदनन्तर पति अपनी कामना के अनुसार पत्नी को खीर आदि भोजन कराने के पश्चात् शयनकाल में 'अमोऽहमस्मि' इत्यादि मन्त्र पढ़कर

उसका आलिङ्गन करे। उस मन्त्रका भाव इस प्रकार है- 'देवि! मैं प्राण हूँ, तुम वाक् हो; तुम वाक् हो, मैं प्राण हूँ, मैं साम हूँ, तुम ऋत हो; मैं आकाश हूँ, तुम पृथ्वी हो; अत: आओ, हम दोनों दम्पति एक-दूसरेका आलिङ्गन करें, एक साथ रेतस् धारण करें, जिससे हमें पुरुषत्वविशिष्ट पुत्र का लाभ हो॥२०॥

अथास्या ऊरू विहापयति विजिहीथां द्यावापृथिवी इति । तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखꣳ सन्धाय त्रिरेनामनुलोमामनुमार्ष्टि विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिꣳशतु आसिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते । गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि पृथुष्टुके । गर्भं ते आश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजौ ॥ २१॥

तत्पश्चात् पत्नी के ऊरुद्वय (दोनों जाँघों) को एक-दूसरे से विलग करे। उस समय यह मन्त्र पढ़ना चाहिये- 'विजिहीथां द्यावापृथिवी इति' हे ऊरुस्वरूप आकाश और पृथिवी ! तुम दोनों विलग होओ इसके बाद पत्नी की योनि में अपनी जननेन्द्रिय स्थापित करके उसके मुँह से मुँह मिलाकर अनुलोम-क्रम से पत्नी के केशादि पादान्त सम्पूर्ण शरीर का तीन बार मार्जन करे मार्जन-काल में 'विष्णुर्योनिं कल्पयतु' इत्यादि मन्त्रका पाठ करे, जिसका भाव इस प्रकार है- प्रिये ! सर्वव्यापी भगवान् विष्णु तेरी जननेन्द्रिय को पुत्र की उत्पत्ति में समर्थ बनावें। भगवान् सूर्य तेरे तथा उत्पन्न होनेवाले बालक के अङ्गों को विभागपूर्वक पुष्ट एवं दर्शनीय बनावें। विराट् पुरुष भगवान् प्रजापति मुझसे अभिन्नरूपमें स्थित हो तुझमें वीर्यका आधान करें। भगवान् धाता मुझसे अभिन्न भावसे स्थित हो तेरे गर्भका धारण एवं पोषण

करें। देवि! जिसकी भूरि-भूरि स्तुति की जाती है, वह सिनीवाली जिसमें चन्द्रमाकी एक कला शेष रहती है, वह अमावास्या तुम हो, तुम यह गर्भ धारण करो, धारण करो। देव अश्विनीकुमार (सूर्य और चन्द्रमा) अपनी किरणरूपी कमलोंकी माला धारण करके मुझसे अभिन्नरूप में स्थित हो तुझ में गर्भका आधान करें॥ २१॥

हिरण्मयी अरणी याभ्यां निर्मन्थतामाश्विनौ तं ते गर्भꣳ हवामहे दशमे मासि सूतये । यथाऽग्निगर्भा पृथिवी यथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी वायुर्दिशां यथा गर्भ एवं गर्भं दधामि तेऽसाविति ॥ २२॥

प्राचीन कालमें ज्योतिर्मयी अरणियाँ थीं, जिनसे अश्विनीकुमारोंने मन्थन किया। उस मन्थनसे अमृतरूप गर्भ प्रकट हुआ। उसी अमृतरूप गर्भ को हम तेरी कुक्षि में स्थापित करते हैं। इसलिये कि तू इसे दसवें महीनेमें उत्पन्न कर सके। जैसे पृथ्वी का गर्भ अग्नि है, जैसे स्वर्गीय भूमि इन्द्र से गर्भवती है, जैसे दिशाओं का गर्भ वायु है, उसी प्रकार मैं तुझमें पुत्ररूप गर्भ स्थापित करता हूँ, अमुक देवि!॥२२॥

सोष्यन्तीमद्भिरभ्युक्षति यथा वायुः पुष्करिणीꣳ समिङ्गयति सर्वतः । एवा ते गर्भ एजतु सहावैतु जरायुणा । इन्द्रस्यायं व्रजः कृतः सार्गलः सपरिश्रयः । तमीन्द्र निर्जहि गर्भेण सावराꣳ सहेति ॥ २३॥

प्रसवकाल में प्रसव करनेवाली स्त्रीके ऊपर 'यथा वायुः .' इत्यादि मन्त्र पढ़कर जल छिड़के। मन्त्रार्थ इस प्रकार है- 'जैसे वायु पोखरी के जल को सब ओर से चञ्चल कर देती है, उसी प्रकार तेरा गर्भ अपने स्थान से चले और जरायुके साथ बाहर निकले। इन्द्र (प्रसूति वायुके) लिये यह योनिरूप मार्ग निर्मित हुआ है; जो अर्गला-गर्भवेष्टन (जरायु) के साथ है। इन्द्र ! (प्रसव वायो!) उस मार्गपर पहुँचकर तुम गर्भ एवं मांसपेशीके साथ बाहर निकलो ॥ २३॥

जातेऽग्निमुपसमाधायाङ्क आधाय कꣳसे पृषदाज्यꣳ सन्नीय पृषदाज्यस्योपघातं जुहोत्यस्मिन्सहस्रं पुष्यासमेधमानः स्वे गृहे । अस्योपसन्द्यां मा च्छैत्सीत् प्रजया च पशुभिश्च स्वाहा । मयि प्राणाꣳस्त्वयि मनसा जुहोमि स्वाहा । यत् कर्मणाऽत्यरीरिचं यद्वा न्यूनमिहाकरम् । अग्निष्टत्स्विष्टकृद्विद्वान् स्विष्टꣳ सुहुतं करोतु नः स्वाहेति ॥ २४॥

पुत्र उत्पन्न होनेपर पिता उसे अपनी गोद में लेकर अग्नि की स्थापना करके कांसे के कटोरे में दधि मिश्रित घी रखकर उसका थोड़ा-थोड़ा-सा अंश लेकर "अस्मिन् सहस्रम्" इत्यादि मन्त्रों द्वारा अग्नि में आहुति दे। मन्त्रार्थ इस प्रकार है- अपने इस घर में पुत्ररूप से वृद्धि को प्राप्त हुआ मैं सहस्रों मनुष्यों का एकमात्र पोषण करनेवाला होऊँ। मेरे इस पुत्र की संतति में प्रजा तथा पशुओं के साथ सम्पत्तिका कभी उच्छेद न हो-स्वाहा। मुझ पिता में जो प्राण हैं, उन प्राणों का तुझ पुत्र में मैं मन-ही-मन होम करता हूँ, स्वाहा। मैंने प्रधान कर्म करने के साथ-साथ जो कुछ अधिक कार्य कर डाला हो अथवा

आवश्यक कर्म में भी जो न्यूनता (त्रुटि) कर दी हो, हमारे उस कर्मको विद्वान् अनिदेव अभीष्टसाधक होकर स्विष्ट और सुहुत (न्यूनातिरिक्त दोषसे रहित) कर दें-स्वाहा ॥२४॥

अथास्य दक्षिणं कर्णमभिनिधाय वाग्वागिति त्रिरथ दधि मधु घृतꣳ सन्नीयानन्तर्हितेन जातरूपेण प्राशयति । भूस्ते दधामि भुवस्ते दधामि स्वस्ते दधामि भूर्भुवः स्वः सर्वं त्वयि दधामीति ॥ २५॥

स्विष्टकृत होम के अनन्तर पिता शिशु के दाहिने कान को अपने मुखके पास ले आकर 'वाक्, वाक्, वाक्' इस प्रकार तीन बार कहे । तत्पश्चात् दही, मधु और घी एक में मिलाकर उसे दूसरे धातुओं के मेलसे रहित विशुद्ध सोनेकी चम्मच से बालक को चटावे। उस समय इन चार मन्त्रोंका पाठ करे- 'भूस्ते दधामि' 'भुवस्ते दधामि' 'स्वस्ते दधामि' 'भूर्भुवः स्वः सर्वं त्वयि दधामि ॥ २५ ॥

अथास्य नाम करोति वेदोऽसीति । तदस्यैतद्गुह्यमेव नाम भवति ॥ २६॥

इसके पश्च्यात बालक के दाहिने कान को अपने मुखके पास ले जाकर 'वाक् वागिति त्रिजपेत्। अथ दधि | वाक्' यह तीन बार जपे। इसके बाद बालकका नामकरण करे। 'तुम वेद हो।' अत: वेद यह उस बालकका गुप्त नाम ही होता है ।। २६ ।।

अथैनं मात्रे प्रदाय स्तनं प्रयच्छति यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्यो रत्नधा वसुविद्यः सुदत्रो येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि सरस्वति तमिह धातवे करिति ॥ २७॥

तदनन्तर इस बालक को माता की गोद में देकर 'यस्ते स्तनः' इत्यादि मन्त्र पढ़ते हुए स्तन पिलावे। मन्त्र का भाव इस प्रकार है- 'हे सरस्वति! तुम्हारा जो स्तन दूध का अक्षयभण्डार तथा पोषण का आधार है, जो रत्नों को खान है तथा सम्पूर्ण धन-राशि का ज्ञाता और उदार दानी है तथा जिसके द्वारा तुम समस्त वरणीय पदार्थो का पोषण करती हो, इस सत्पुत्र के जीवनधारणार्थ उस स्तन को तुम मेरी पत्नी के शरीरमें प्रविष्ट होकर इस शिशुके मुख में दे दो।॥ २७॥

अथास्य मातरमभिमन्त्रयते । इलाऽसि मैत्रावरुणी वीरे वीरमजीजनत् । सा त्वं वीरवती भव याऽस्मान्वीरवतोऽकरदिति । तं वा एतमाहुरतिपिता बताभूरतिपितामहो बताभूः । परमां बत काष्ठां प्रापयच्छ्रिया यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवंविदो ब्राह्मणस्य पुत्रो जायत इति ॥ २८॥

इसके बाद बालक की माताको इस प्रकार 'इलासि' इत्यादि मन्त्रद्वारा अभिमन्त्रित करे।मन्त्र का भाव इस प्रकार है- 'हे देवि! तू ही स्तुति के योग्य मैत्रावरुणी-अरुन्धती है। वीरे! तूने वीर पुत्र को जन्म देकर हमें वीरवान्-वीर पुत्र का पिता बनाया है, अत: तू वीरवती हो। इस बालक को देखकर दूसरे लोग कहें-'तू सचमुच

अपने पिता से भी आगे बढ़ गया, तू निःसंदेह अपने पितामह से भी श्रेष्ठ निकला, तू लक्ष्मी, कीर्ति तथा ब्रह्मतेज के द्वारा उन्नति की चरम सीमा को पहुँच गया।' इस प्रकार विशिष्टज्ञान सम्पन्न जिस ब्राह्मण के ऐसा पुत्र उत्पन्न होता है, वह पिता भी इसी प्रकार स्तुत्य होता है ॥२८॥

इति चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

॥चौथा ब्राह्मण समाप्त ॥

॥ श्री हरि ॥

॥बृहदारण्यकोपनिषद॥

अथ षष्ठोऽध्यायः - पञ्चमं ब्राह्मणम्

पांचवां ब्राह्मण

अथ वꣳशः । पौतिमाषीपुत्रः कात्यायनीपुत्रात् कात्यायनीपुत्रो गौतमीपुत्राद् गौतमीपुत्रो भारद्वाजीपुत्राद् भारद्वाजीपुत्रः पाराशरीपुत्रात् पाराशरीपुत्र औपस्वस्तीपुत्रादौपस्वस्तीपुत्रः पाराशरीपुत्रात् पाराशरीपुत्रः कात्यायनीपुत्रात् कात्यायनीपुत्रः कौशिकीपुत्रात् कौशिकीपुत्र आलम्बीपुत्राच्च वैयाघ्रपदीपुत्राच्च वैयाघ्रपदीपुत्रः काण्वीपुत्राच्च कापीपुत्राच्च कापीपुत्रः ॥ १॥

अब वंशका वर्णन किया जाता है-पौतिमाषीपुत्र ने कात्यायनीपुत्र से, कात्यायनीपुत्र ने गौतमीपुत्र से, गौतमीपुत्र ने भारद्वाजीपुत्र से भारद्वाजीपुत्र ने पाराशरीपुत्र से, पाराशरीपुत्र ने औपस्वस्तीपुत्र से, औपस्वस्तीपुत्र ने पाराशरीपुत्र से, पाराशरीपुत्र ने कात्यायनीपुत्र से, कात्यायनीपुत्र ने कौशिकीपुत्र से, कौशिकीपुत्र ने आलम्बीपुत्र से और वैयाघ्रपदीपुत्र से, वैयाघ्रपदीपुत्र ने काण्वोपुत्र से तथा कापीपुत्र से, कापीपुत्रने॥१॥

आत्रेयीपुत्रादात्रेयीपुत्रो गौतमीपुत्राद् गौतमीपुत्रो भारद्वाजीपुत्राद्

भारद्वाजीपुत्रः पाराशरीपुत्रात् पाराशरीपुत्रो वात्सीपुत्राद् वात्सीपुत्रः
पाराशरीपुत्रात् पाराशरीपुत्रो वार्कारुणीपुत्राद् वार्कारुणीपुत्रो
वार्कारुणीपुत्राद् वार्कारुणीपुत्र आर्तभागीपुत्रादार्तभागीपुत्रः
शौङ्गीपुत्राच्चौङ्गीपुत्रः साङ्कृतीपुत्रात् साङ्कृतीपुत्र
आलम्बायनीपुत्रादालम्बायनीपुत्र आलम्बीपुत्रादालम्बीपुत्रो
जायन्तीपुत्राज्
जायन्तीपुत्रो माण्डूकायनीपुत्रान् माण्डूकायनीपुत्रो माण्डूकीपुत्रान्
माण्डूकीपुत्रः शाण्डिलीपुत्राच्छाण्डिलीपुत्रो राथीतरीपुत्राद्
राथीतरीपुत्रो
भालुकीपुत्राद् भालुकीपुत्रः क्रौञ्चिकीपुत्राभ्यां क्रौञ्चिकीपुत्रौ
वैदभृतीपुत्राद् वैदभृतीपुत्रः कार्शकेयीपुत्रात् कार्शकेयीपुत्रः
प्राचीनयोगीपुत्रात् प्राचीनयोगीपुत्रः साञ्जीवीपुत्रात् साञ्जीवीपुत्रः
प्राश्नीपुत्रादासुरिवासिनः प्राश्नीपुत्र आसुरायणादासुरायण
आसुरेरासुरिः ॥ २॥

आत्रेयीपुत्र से, आत्रेयीपुत्र ने गौतमीपुत्र से, गौतमीपुत्र ने भारद्वाजीपुत्र से, भारद्वाजीपुत्र ने पाराशरीपुत्र से, पाराशरीपुत्र ने वात्सीपुत्र से, वात्सीपुत्र ने पाराशरीपुत्र से, पाराशरीपुत्र ने वार्कारुणीपुत्र से, वार्कारुणीपुत्र ने वाकारुणीपुत्र से; वार्कारुणीपुत्र ने आर्तभागीपुत्र से, आर्तभागीपुत्र ने शौङ्गीपुत्र से, शौङ्गीपुत्र ने साङ्कृतीपुत्र से साङ्कृतीपुत्र ने आलम्बायनीपुत्र से, आलम्बायनीपुत्र ने आलम्बीपुत्र से आलम्बीपुत्र ने जायन्तीपुत्र से, जायन्तीपुत्र ने माण्डूकायनीपुत्र से, माण्डूकायनीपुत्र ने माण्डूकीपुत्र से,माण्डूकीपुत्र ने शाण्डिलीपुत्र से, शाण्डिलीपुत्र ने राथीतरीपुत्र से, राथीतरीपुत्र ने भालुकीपुत्र से, भालुकीपुत्र ने दो क्रौञ्चिकी पुत्रों से, दोनों क्रौञ्चिकी पुत्रों ने वैदभृतीपुत्र से, वैदभृतीपुत्र ने कार्शकेयीपुत्र से, काशकेयीपुत्र ने प्राचीनयोगीपुत्र

से, प्राचीनयोगीपुत्र ने साञ्जीवीपुत्र से, साञ्जीवीपुत्र ने आसुरिवासी प्राश्नीपुत्र से, प्राश्नीपुत्र ने आसुरायण से, आसुरायण ने आसुरि से, आसुरि ने ॥२॥

याज्ञवल्क्याद् याज्ञवल्क्य ऊद्दालकादूद्दालकोऽरुणादरुण उपवेशेरुपवेशिः कुश्रेः कुश्रिर्वाजश्रवसो वाजश्रवा जीह्वावतो बाध्योगाज् जीह्वावान्बाध्योगोऽसिताद्वार्षगणादसितो वार्षगणो हरितात्कश्यपाद्ध हरितः कश्यपः शिल्पात्कश्यपाच्छिल्पः कश्यपः कश्यपान्नैध्रुवेः कश्यपो नैध्रुविर्वाचो वागम्भिण्याः अम्भिण्यादित्यादादित्यानीमानि शुक्लानि यजूꣳषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येनाऽऽख्यायन्ते ॥ ३॥

याज्ञवल्क्य से, याज्ञवल्क्य ने उद्दालक से, उद्दालक ने अरुण से, अरुण ने उपवेशि से, उपवेशि ने कुश्रि से, कुश्रि ने, वाजश्रवा से, वाजश्रवा ने जिह्वावान् बाध्योग से, जिह्वावान् बाध्योग ने असित वार्षगण से, असित वार्षगण ने हरित कश्यप से, हरित कश्यप ने शिल्पकश्यप से शिल्पकश्यप ने कश्यप नैध्रुवि से, कश्यप नैध्रुवि ने वाक से, वाक ने अम्भिणी से, अम्भिणी ने आदित्य से, आदित्य से प्राप्त हुई ये शुक्ल यजुः श्रुतियाँ वाजसनेय याज्ञवल्क्यद्वारा प्रसिद्ध की गयी हैं ॥३॥

समानमा साञ्जीवीपुत्रात् सञ्जिवीपुत्रो माण्डूकायनेर्माण्डूकायनिर्माण्डव्यान् माण्डव्यः कौत्सात् कौत्सो माहित्थेर्माहित्थिर्वामकक्षायणाद् वामकक्षायणः

शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यो वात्स्याद् वात्स्यः कुश्रेः कुश्रिर्यज्ञवचसो राजस्तम्बायनाद् यज्ञवचा राजस्तम्बायनस्तुरात्कावषेयात् तुरः कावषेयः प्रजापतेः प्रजापतिर्ब्रह्मणो ब्रह्म स्वयम्भु । ब्रह्मणे नमः ॥ ४॥

साञ्जीवीपुत्रपर्यन्त यह एक ही वंश है। साञ्जीवीपुत्र ने माण्डूकायनि से, माण्डूकायनि ने माण्डव्य से, माण्डव्य ने कौत्स से, कौत्स ने माहित्थि से, माहित्थि ने वामकक्षायण से, वामकक्षायण ने शाण्डिल्य से, शाण्डिल्य ने वात्स्य से, वात्स्य ने कुश्रि से, कुश्रि ने यज्ञवचा राजस्तम्बायन से, यज्ञवचा राजस्तम्बायन ने तुर कावषेय से, तुर कावषेय ने प्रजापति से और प्रजापति ने ब्रह्म से। ब्रह्म स्वयम्भु है, स्वयम्भु ब्रह्म को नमस्कार है॥४॥

इति पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥

॥ पांचवां ब्राह्मण समाप्त ॥

॥ इति बृहदारण्यकोपनिषदि षष्ठोऽध्यायः ॥

॥ बृहदारण्य उपनिषद का छठा अध्याय समाप्त ॥

॥ हरि ॐ ॥

शान्तिपाठ

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमदुच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

वह परब्रह्म पूर्ण है और वह जगत ब्रह्म भी पूर्ण है, पूर्णता से ही पूर्ण उत्पन्न होता है। यह कार्यात्मक पूर्ण कारणात्मक पूर्ण से ही उत्पन्न होता है। उस पूर्ण की पूर्णता को लेकर यह पूर्ण ही शेष रहता है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

हमारे, अधिभौतिक, अधिदैविक तथा तथा आध्यात्मिक तापों (दुखों) की शांति हो।

हरि ॐ तत सत

॥ इति वाजसनेयके बृहदारण्यकोपनिषत्समाप्ता ॥

॥ वाजनेय शाखा के अंतर्गत वर्णित बृहदारण्य उपनिषद समाप्त ॥

संकलनकर्ता:

श्री मनीष त्यागी

संस्थापक एवं अध्यक्ष
श्री हिंदू धर्म वैदिक एजुकेशन फाउंडेशन

www.shdvef.com

॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय: ॥